* भगवानश्रीकुन्दकुन्दकहानजैनशास्त्रमाला, पुष्प १७० *

स्व० शाह पं० दीपचन्दजी काशलीवाल

कृत

आत्मावलोकन

भाषा-परिवर्तनकार

श्री पं० राजकिशोर जैन, बडौत

प्रकाशक

श्री दि० जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,

सोनगढ (सौराष्ट्र) ३६४२५०

* भगवानश्रीकुन्दकुन्दकहानजैनशास्त्रमाला, पुष्प १७० *

स्व० शाह पं० दीपचन्दजी काशलीवाल

कृत

आत्मावलोकन

卐

भाषा-परिवर्तनकार

श्री पं० राजकिशोर जैन, बडौत

प्रकाशक

श्री दि० जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,

सोनगढ (सौराष्ट्र) ३६४२५०

प्रथमावृत्ति : १००० : वीर नि. सं २५१४
द्वितीयावृत्ति : २००० : वीर नि. सं. २५२३

मूल्य : १५=००

मुद्रक
ज्ञानचन्द जैन
कहान मुद्रणालय, सोनगढ-३६४२५०

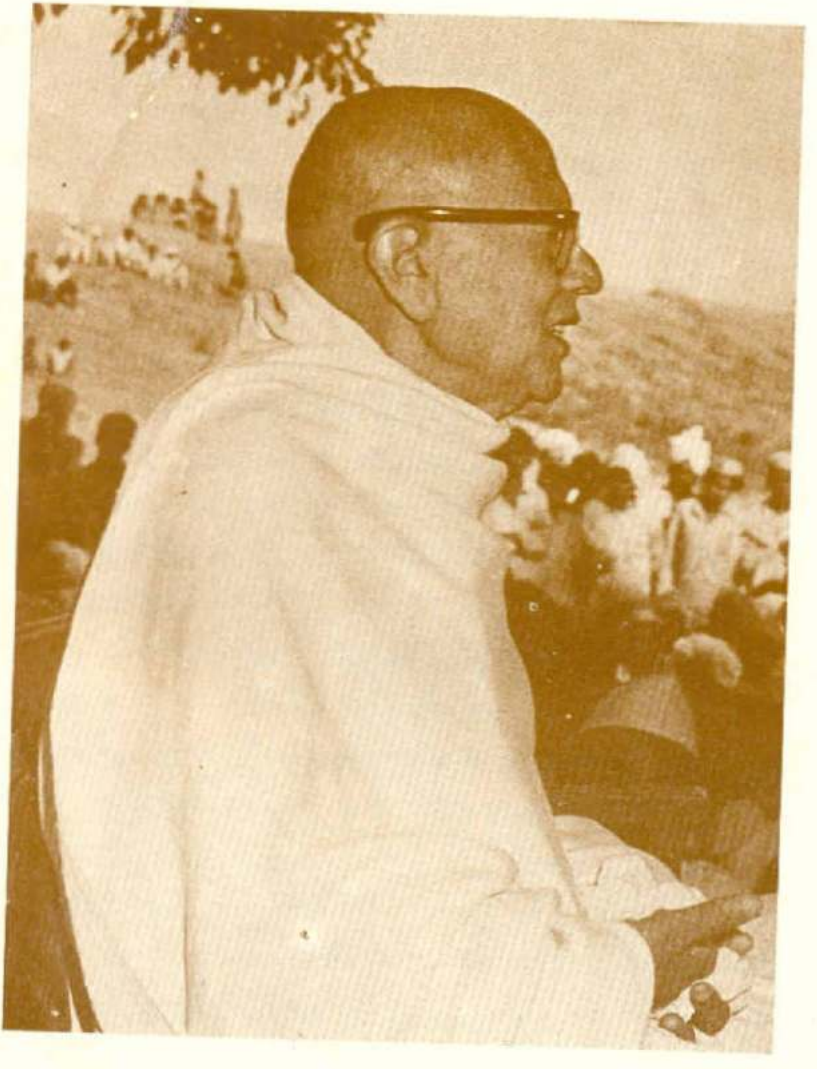

परमोपकारी पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी

प्रकाशकीय निवेदन

स्वानुभवविभूषित आत्मज्ञसंत पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी 'तीर्थंकरभगवन्तों द्वारा प्रकाशित दिगम्बर जैनधर्म ही सनातन सत्य है' ऐसा युक्ति-न्यायसे सर्वप्रकार स्पष्टरूपसे समझाया है; मार्गकी खूब छानबीन की है। द्रव्यकी स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, आत्माका शुद्ध स्वरूप, सम्यग्दर्शन, स्वानुभूति, मोक्षमार्ग इत्यादि सब कुछ आपके परम प्रतापसे इस काल सत्यरूप बाहर आया है। वही अध्यात्ममार्ग आज भी आत्मार्थी जीवोंके लिये परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी एवं उनके भक्तरत्न प्रशममूर्ति धन्यावतार स्वानुभवविभूषित पूज्य बहिनश्री चम्पाबेनके धर्मोपकार द्वारा अविरतरूपसे प्रवर्तित है। उन दोनोंकी मंगल प्रेरणासे शास्त्रप्रकाशन आदि प्रवृत्तियाँ भी अविरतरूपसे चालू हैं। उस प्रशस्त प्रवृत्तिके अंगभूत उसमें यह प्रकाशन प्रगट करते हुए अति हर्ष होता है।

इस 'आत्मावलोकन' ग्रन्थके रचयिता श्री दीपचन्दजी कासलीवाल हैं। वे आमेरके रहनेवाले थे। उन्होंने इस ग्रन्थके उपरांत अनुभव प्रकाश, चिद्विलास, अनुभव विलास छंद, परमात्म-पुराण छंद, स्वरूपानन्द बृहत् तथा लघु ज्ञानदर्पण आदि अनेक ग्रन्थ रचे हैं।

आपके समय और जीवनके सम्बन्धमें कोई जानकारी प्राप्त नहीं हुई है, परन्तु आपके ग्रन्थोंसे यह ज्ञात होता है कि अध्यात्म आपके रुचिका विषय रहा है।

अन्तमें, ऐसे अध्यात्मग्रन्थसे आत्मार्थी जीव आत्मसाधनासे लाभान्वित हों ऐसी भावनाके साथ.....

बहिनश्री चम्पाबेन ८४वाँ
मंगल जन्मोत्सव
ता. २०-८-९७

प्रकाशनसमिति
श्री दि. जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,
सोनगढ-३६४२५०

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
१ देवाधिकार (मंगलाचरण)	१
२ गुरु अधिकार	५
३ धर्माधिकार	६
४ विधिवाद	८
५ चरितानुवाद	११
६ यथास्थितिवाद	१२
७ ज्ञेयवाद	१३
८ हेय व्याख्या	१३
९ उपादेय स्वरूप व्याख्यान	१४
१० व्यवहार वर्णन	१५
११ निश्चय लक्षण	१९
१२ साक्षात् धर्म	२३
१३ बर्हिधर्म	२५
१४ मिश्रधर्म कथन	२७
विकार उत्पत्ति	३८
चित्विकार वर्णन	३९
१५ जीवाधिकार वर्णन	४९
१६ अजीवाधिकार वर्णन	५०
१७ कर्त्ता-कर्म-क्रिया अधिकार	५३
१८ पुण्यपापाधिकार	५५
१९ आस्रवाधिकार	६४
२० बन्धाधिकार	६५
२१ संवराधिकार	६५
२२ संवरपूर्वक निर्जराधिकार	६६
२३ मोक्षाधिकार	६६
२४ कुनयाधिकार	६७
२५ सम्यग्भावस्य यथाऽस्ति तथाऽवलोकनाधिकार	७०
२६ साधक-साध्यभाव	८२
साधक-साध्य भावना उदाहरण	८३
२७ मोक्षमार्ग अधिकार	८५
२८ अन्तर्व्यवस्था कथन	८९
२९ सम्यग्दृष्टि सामान्य विशेषाधिकार	९१
३० सम्यक्त्व गुणका कुछ विवरण	१००
३१ संसार कर्तृत्व अधिकार	१११
३२ अथ अनुभव विवरण	११६
निर्विकल्पका काल	१२४
अथ अन्यत् किंचित् कथ्यते.....	१२६
अथ छद्मस्थिनां परमात्मप्राप्ते सकलारीतिः	१३६
अथ जीवभाव वचनिका	१३९
आत्मावलोकन स्तोत्र	१४२

ॐ नमः वीतरागाय ।

ॐ

श्री पं. दीपचन्दजी शाह काशलीवाल कृत

आत्मावलोकन

(१) देवाधिकार

मङ्गलाचरण

दप्पणदंसणेण य ससरुवं पस्सदि कोवि णरो ।
तह वीयरायायारं दिट्ठा सयं रागे तमहं हि ॥ १ ॥

दर्प्पणदर्शनेन च स्वस्वरूपं पश्यति कोपि नरः ।
तथा वीतरागाकारं दृष्ट्वा स्वयं रागे तत् अहं हि ॥ १ ॥

यथा कोपि नरः दर्प्पणदर्शनेन स्वस्वरूपं पश्यति तथा रागे सति च पुनः वीतरागाकारं बिम्बं दृष्ट्वा तत् स्वयं अहं हि ।

अर्थः—जैसे कोई पुरुष दर्पण देखकर उसमें अपने मुखका रूप निःशंकरूपसे देखता है, उसी प्रकार निश्चयसे स्वयं सरागतामें होते हुए भी वीतराग प्रतिबिम्बको देखकर वह वीतराग ही अपने आपमें, निःसंदेह मैं ही हूँ, ऐसा जानता है ।

भावार्थः—दर्पणके दृष्टान्त द्वारा यहाँ इतना भाव लेना कि दर्पणका देखना और उसमें अपने मुखका देखना होता है ।

इस दृष्टान्तका इतना भाव लेना । वह दृष्टान्त इस प्रकार है:—इस संसारमें किसी पुरुषको दर्पण देखनेसे (उसको) अपने मुखकी भले प्रकार प्रतीति होती है ऐसा निःसंदेहरूपसे दिखाई देता है । इस दृष्टान्तकी भाँति यह जो आसन्न भवि (निकट भव्य) जीव है; वह जीव भी जब जिस कालमें सर्वथा सर्वकालमें सर्व प्रकारसे वीतरागरूप परिणमित हुआ, तब उस कालमें जैसे यह प्रत्यक्ष जो पद्मासन या कायोत्सर्ग पाषाणकी मूर्तिका आकार है, (उनका) न सिर काँपता है, न पलक, भौंह, नेत्र, नासिका काँपती है, न जीभ, दाँत, ओठ काँपते हैं, न कंधा, भुजा, हाथ, अंगुली काँपती है, न हृदय, पेट, जाँघ, पिंडली, पैर काँपते हैं, न रोम तक हिलते हैं, न नख बढ़ते हैं, न बाल बढ़ते, न हिलती है, न उठती है, न बैठती है, जैसे प्रत्यक्ष इस पाषाणकी मूर्तिको देखते हैं, उसी प्रकार जब यह जीव सर्वथा वीतरागरूप परिणमता है, उसी समय यह देह परमौदारिक कायोत्सर्ग या पद्मासन आकार होती है, चेतनप्रतिमा, पाषाण-प्रतिमा समान होती है । पाषाण और परमौदारिक प्रतिमामें भेद कुछ नहीं होता, दोनों वस्तुकी मूर्ति है । वीतराग जीवकी ऐसी चेतनमूर्ति अथवा स्थापना मूर्ति, इन दोनोंको निकट भव्य जीव देखकर मनमें ऐसा विचार करता है—वह विचार कैसा होता है ?—

वीतराग तो परमात्मदशा है—परमेश्वर है—सर्वज्ञ है । वीतरागका अर्थ यह है कि वीत अर्थात् गया है; राग अर्थात् रंजना होना; ऐसा भाव तन्मयरूप हो जाये उसको वीतराग कहते हैं । इससे यह जाना जाता है कि अपनी पूर्व अवस्थामें वह पुरुष रागी था । क्योंकि गया तो तब कहलाये जब (पूर्वमें) हो, अन्यथा ऐसा नाम प्राप्त न करे । अतः उसके

राग था, जब राग गया तब वीतराग परमेश्वर कहलाया ।

यहाँ एक दूसरा विचार आता है—जो जायेगा वह वही वस्तुत्व द्वारा उत्पन्न नहीं है । वह कोई (अन्य) वस्तुके द्वारा (–परवस्तुके आश्रयसे) दोष उत्पन्न किया हुआ है । और जो (स्व) वस्तुत्वसे (स्वाश्रयसे) उत्पन्न है वह कभी नहीं जाता । यह प्रगट बात है । किन्तु एक बात और है, यह जो दोष है, वह उस वस्तुत्वके ही (अनित्य अस्तित्वमें) उत्पन्न होता है, वस्तु बिना उत्पन्न नहीं होता है । फिर भी वह विकार काल पाकर जाता है । तब वह जो कुछ वस्तुत्व भाव है वही रह जाता है । इसमें धोखा नहीं है । जैसे पानीसे उष्णतारूप विकार दूर हुआ और शीतल वस्तुभाव सहज ही रह जाता है । जैसे स्वर्णसे काला कलंक जिस समय दूर होता है उसी समय सोलह वर्ण वस्तुभाव सहज ही रह जाता है । अतः यह बात ठीक है कि जो भाव जाता है वह विकार है । उस विकारके जानेसे जो कुछ वस्तुभाव है, वह सहज ही रह जाता है । इससे भले प्रकार जाना जाता है कि जिसके जब राग व्यतीत होता है–छूटता है, तब जो वस्तुत्वभाव था वही प्रत्यक्ष रह जाता है । वह वस्तुत्वभाव तो स्वयं परम पुरुष है, वही है । जो कुछ स्वयं स्व वही वस्तु है । जो गया वह विकार ही था । (जो गया वह) उस पुरुषका ही कुछ भूलरूप भ्रम है । पुरुषका मूल वस्तुत्वभाव तो वह है जो इस भूलके जाने पर रहता है ।

जब इस विधिको (प्रकार) यथार्थरूपसे (समझ) वीतरागकी जंगम–स्थावर (चेतन या जड़) प्रतिमा देखनेसे विचार आया तब ही अपनी ओर (तरफ) स्व-सम्बन्धमें विचार आया । विचार करने पर स्वयंको भी क्या देखा ? निःसंदेह

स्वयंको सरागी देखा । इस प्रकार स्वयंको सरागी देखनेसे यह निर्णय हुआ कि जैसे यह जीव (भी पूर्वदशामें) सरागी था, (अब) वीतराग होकर वस्तुत्वभावरूप रह गया है, वैसे ही मेरा भी विकार–राग बीतेगा (छूटेगा) तब मैं भी वस्तुत्वभावके रूपको इसी प्रकार प्रत्यक्ष बाहर निकालुँगा (प्रगटाऊँगा) ।

निःसंदेह तो मैं–जो मूल वीतराग वस्तुत्वभाव है, वही मैं हूँ । उस वस्तुभावसे मैं अभेद ही हूँ । और जो यह रागादिका प्रकार है वह विकार है । कुछ वस्तुत्वभावमें तो वह नहीं है । वस्तुत्वभावके ऊपर–ऊपर कुछ दोष उत्पन्न हुआ है । मूलरूपसे मैं वही हूँ जो इस विकारके जाने पर रह जाता है । निःसंदेह मैं वही हूँ । और यह विकारका सर्व प्रकार काल पाकर जायेगा तो जाओ, परन्तु मैं तो मूल वीतरागरूप स्वभाव हूँ । तो इस प्रकार वीतरागकी प्रतिमा देखनेसे स्वयंको ही वीतरागसे अभेद सम्यक् (भली प्रकार) जाननेके परिणाम होते हैं । अतः जिस प्रकार दर्पणका देखना मुखके देखनेको प्रगट करता है उसी प्रकार वीतरागकी जड़, चेतन प्रतिमाका दर्शन भी संसारी जीवके वस्तुत्वभाव प्रगट करने–दिखलानेको कारण है । इस कारण इस प्रतिमाको देवत्व नाम प्राप्त हुआ । क्यों ?

(क्योंकि) इन वीतरागकी प्रतिमाका देखना निःसंदेह संसारीके निजरूप दिखलानेका कारण है । इस कारणसे प्रतिमाके देवत्वका कथन इस प्रकार आया है । ऐसा देवत्व अन्य स्थानपर नहीं पाया जाता । ऐसा देव इन (निज) परिणामोंको, नीचेकी व्यवहार-अवस्थामें कारण है ॥ १ ॥

इति देव अधिकारः ।

(२) गुरु अधिकार

वियरायं वियरायं, जियस्य णिय ससरुओ वियरायं ।
मुहु मुहु गणदि वियरायं, सो गुरुपयं भासादि सया ॥ २ ॥

वीतरागं वीतरागं जीवस्य निजस्वस्वरूपो वीतरागं ।
मुहुर्मुहुः गृणनाति वीतरागं, स गुरुपदं भासति सदा ॥ २ ॥

वीतरागं वीतरागं जीवस्य निजस्वरूपो वीतरागं मुहुर्मुहुः गृणनाति कथयति स पुरुष गुरुपदं स्थानं भासति शोभते कथयति स सदा ।

अर्थः—जीवका निजस्वरूप वीतराग है, ऐसा बारंबार कहता है वही गुरु पदवीको शोभित होता है ।

भावार्थः—अट्ठाईस मूलगुण, बाइस परीषह, पंचाचार आदि सहित विराजमान, परमाणुमात्र बाह्य परिग्रह नहीं है और अंतरंगमें भी परमाणुमात्र परिग्रहकी इच्छा नहीं है, अनेक उदासीन भावोंसे विराजमान है और निज जाति-स्वरूपको साधते हैं, सावधान हो समाधिमें लीन होते हैं । संसारसे उदासीन परिणाम किये हैं, ऐसे जो जैन साधु हैं, अपनेको तो वीतरागरूप अनुभवते ही हैं और मनको स्थिरीभूत करके जब किसीको उपदेश भी देते हैं तो अन्य सब छोड़कर जीवके एक निज वीतरागस्वरूपको ही बारंबार कहते हैं । उनके अन्य कुछ अभ्यास नहीं है, यही एक अभ्यास है । स्वयं भी अन्तरंगमें स्वयंको वीतरागरूप अभ्यास करते हैं और बाह्यमें भी जब बोलते हैं, तब आत्माका वीतराग स्वरूप है, यही वचन बोलते हैं । ऐसा वीतरागका उपदेश सुनते ही निकट-भव्यको निःसंदेह-रूपसे निज वीतरागत्वरूपकी सुधि होती है । इसमें संशय नहीं है । जिस साधुके वचनमें ऐसा वीतरागका ही कथन है, उस

जैन साधुको ही 'निकटभव्य' गुरु कहते हैं; क्योंकि अन्य कोई पुरुष तत्त्वका ऐसा उपदेश नहीं कहता है अतः इस पुरुषको ही गुरुकी पदवी शोभायमान होती है, अन्यको शोभायमान नहीं होती। यह निःसंदेह रूपसे जानना।

इति गुरु अधिकारः।

(३) धर्माधिकार

अहमेव वीयरायं, मम णिय ससरुवो वीयरायं खलु।
तम्हा हि वीयरायत्तं, फुड णियधम्मसहावो तप्पदि ॥ ३ ॥

अहमेव वीतरागं, मम निज स्वस्वरूपको वीतरागं खलु।
तस्मात् हि वीतरागत्वं, स्फुटं निजधर्मस्वभावो तप्यति ॥ ३ ॥

अहं एव वीतरागं खलु मम निज स्वस्वरूपो वीतरागं तस्मात् स्फुटं निजधर्म स्वभावो हि वीतरागत्वं तप्यति।

निश्चयसे मैं वीतराग हूँ, और निश्चयसे मेरा निजरूप वीतराग है। इस कारणसे प्रगट निजजाति वस्तुस्वरूपस्वभाव निश्चयसे वीतराग भावसे ही देदीप्यमान है।

भावार्थः—जब अनादिसे भ्रमते भ्रमते भव्य जीवको [1]काललब्धि प्राप्त हुई, अपना निज स्वस्वरूप व्यक्तरूप परिणमित

---

१. जहाँ जहाँ काललब्धि शब्द आये वहां मोक्षमार्गप्रकाशक अ. ९ पेज ३१०-३११ के अनुसार ऐसा अर्थ लगाना—

प्रश्न—मोक्षका उपाय काललब्धि आनेपर भवितव्यानुसार बनता है या मोहादिकका उपशमादि होने पर बनता है, अथवा अपने पुरुषार्थसे उद्यम करने पर बनता है, सो कहिए। जो पहले दो कारण मिलने पर

हुआ, तबसे अपना वीतरागरूप जानता है, देखता है, आचरण करता है। वह निज धर्म 'वीतराग' है ऐसा अनुभव करता है। अन्य सर्व भाव अशुद्ध, भिन्न, अधर्म जानता है।

इति धर्माधिकारः।

बनता है तो हमको उपदेश क्यों देते हो? और पुरुषार्थसे बनता है तो उपदेश सब सुनते हैं, उनमें कोई उपाय कर सकता है कोई नहीं कर सकता है, सो कारण क्या?

समाधान—एक कार्य होनेमें अनेक कारण मिलते हैं। मोक्षका उपाय बनता है तब तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलते हैं, और नहीं बनता है, तब तीनों ही कारण नहीं मिलते। पूर्वोक्त तीनों कारणोंमें काललब्धि या होनहार तो कुछ वस्तु नहीं है। जिस कालमें कार्य बने वही काललब्धि और जो कार्य हुआ वही होनहार। तथा कर्मका उपशमादि है, सो पुद्गलकी शक्ति है। उसका आत्मा कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। तथा पुरुषार्थसे उद्यम करते हैं, वह आत्माका कार्य है। अतः आत्माको पुरुषार्थ द्वारा उद्यम करनेका उपदेश देते हैं। तब यह आत्मा जिस कारणसे कार्यसिद्धि अवश्य हो उस कारणरूप उद्यम करता है, वहाँ तो अन्य कारण मिलते ही मिलते हैं और कार्यकी भी सिद्धि होती ही होती है। तथा जिस कारणसे कार्यसिद्धि हो अथवा नहीं भी हो उस कारणरूप उद्यम करता है, तब अन्य कारण मिलते हैं तो कार्यसिद्धि होती है, नहीं मिलते तो सिद्धि नहीं होती। जिनमतमें जो मोक्षका उपाय कहा है उसमें मोक्ष होता ही होता है। अतः जो जीव पुरुषार्थ द्वारा जिनेश्वरके उपदेश अनुसार मोक्षका उपाय करता है, उसके काललब्धि या होनहार भी हुई और कर्मका उपशमादि भी हुआ है, तो वह ऐसा उपाय करता है। अतः जो पुरुषार्थ द्वारा मोक्षका उपाय करता है, उसको सब कारण मिलते हैं, ऐसा निश्चय करना। और उसको अवश्य प्राप्ति होती है।

(४) विधिवाद

सहावं कुणोदि दव्वं, परणमदि णियसहाव भावेषु ।
तमयं दव्वस्स विहिं, विधिवादं भणइ जिनवाणी ॥ ४ ॥

स्वभावं करोति द्रव्यं परिणमति निजस्वभाव भावेषु ।
तमयं द्रव्यस्य विधिर्विधिवादं भणति जिनवाणी ॥ ४ ॥

खलु निश्चयेन जीव द्रव्यस्य वस्तुनो अयं प्रत्यक्ष विधिरर्थं यथार्थयुक्तिः, निजस्वभावभावे स्वजातिस्वरूपविषये मध्ये जीवद्रव्यं वस्तुस्वभावं स्वस्वरूपं करोति, उत्पद्यते वा अथवा परिणमति, एवं जिनवाणी दिव्यध्वनित्वं स्वरूपपरिणमनं विधिवादं वस्तुरीति युक्ति कथनं भणति कथयति ।

निश्चयसे वस्तुकी यह सच्ची रीति है कि निज जाति अपने स्वरूपमें वस्तु (जीव) अपने ही स्वरूपसे उत्पन्न होती है, परिणमती है, जिनवाणी (द्वादशांगवाणी) उसको विधिवाद कहती है ।

भावार्थ—एक तो इस द्वादशांगमें ऐसा कथन प्रचलित है—वह क्या ? जीव अपने ही स्वरूप ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप परिणमता है, उस रूप परिणमते कर्मोंका संवर होता है, कर्मोंकी निर्जरा होती है और कर्मोंका मोक्ष होता है । तब परमानन्द निज सुख उत्पन्न होता है । ऐसी जीवकी स्वरूप परिणति जीवको विधियोग्य है क्योंकि जीव सुखी होता है । और जो जीवकी परभावरूप अशुद्ध परिणति है, उस परिणतिरूप परिणमते कर्मोंका आस्रव होता है और आत्मप्रदेशोंसे परस्पर एक क्षेत्रावगाह होकर कर्मोंका बन्ध होता है । पुण्य-पाप विपाक होने पर दुःखी होता है । तो ऐसी जीवकी अशुद्धपरिणति जीवको अविधिरूप है-अयोग्य है क्योंकि जीव दुःखी होता है;

अतः इस जीवको परमानंद सुख होनेके लिये स्वरूप परिणति विधि योग्य है । इसलिये जब स्वरूप परिणतिरूप परिणमता है तब सहज ही उन परिणामों द्वारा अविधि परिणति (अवैधपरिणति) नष्ट हो जाती है और वचन व्यवहार द्वारा भी उसी प्रकार कहते हैं—स्वरूप परिणतिरूप प्रवृत्त होओ, यह प्रवर्तन तुम्हें योग्य है ।

इति विधिवादः ।

---

(५) चरितानुवाद

रायदोहभावाणं, उदियभावाणं कहाकहणं जहा ।
तं चरियाणुवायं हि, जिणसमय णिद्दिट्ठं तहा ॥ ५ ॥

रागदोषभावानां औदयिकभावानां कथाकथनं यथा ।
तं चरितानुवादं हि, जिनसमये निर्दिष्टं तथा ॥ ५ ॥

हि सत्येन यथा येन प्रकारेण रागदोषभावानां पराचरण-भावानां वा औदयिकभावानां दुखास्वादभावनां कथाकथनं स्वरूपकथनं तं कथनं चरितानुवादं–चरित्रवादं–जिनसमये द्वादशांगे निर्दिष्टं कथितं ।

निश्चयसे जिस जिस प्रकारसे पर आचरणभावों हीका, अथवा शुभ–अशुभ स्वादभावोंहीका जो स्वरूपकथन, उस कथनको चरितानुवाद संज्ञा (नाम) द्वारा द्वादशांगमें कहा गया है ।

भावार्थ—पुद्गल स्वामित्वरूप मिथ्यात्व वह पर आचरणका कथन है और उच्चस्थानसे गिरना और वह गिरना भी पराचरणको ही प्रगट करता है । अज्ञानीके स्थूल बन्ध और

जघन्य ज्ञानीके अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्मबंध, इस प्रकार बंधहीका भाव, वह भी पराचरणकी प्रसिद्धता है तथा सरागी जीवभाव वह भी पराचरणकी प्रसिद्धता है; ऐसे ऐसे भावोंका जो कथन वह केवल पराचरणका चारित्र है। और यह क्रोध पुद्गल उदयरसका भोग, मान, माया, लोभ, अनंतानुबंधी या अप्रत्याख्यान या प्रत्याख्यान या संज्वलन नोकषाय इन सर्व पुद्गलउदयरसका भोग, गति संबंधी पुद्गलोंका, योगसंबंधी पुद्गलोंका, इन्द्रियविषय आवरण संबंधी पुद्गलोंका, अन्तराय संबंधी पुद्गलोंका, इन्द्रिय-विषय संबंधी पुद्गलोंका, पुण्य-पाप संबंधी पुद्गलोंका, इस प्रकार सर्व पुद्गलउदयरसका भोग, ऐसे भोग होते जीवको क्रोधी कहते हैं, मानी कहते हैं, मायावी कहते हैं, लोभी कहते हैं, मनुष्य कहते हैं, देव कहते हैं, पुण्यशाली कहते हैं, पापी कहते हैं और दुःखी कहते हैं, इस प्रकार जो सर्व जीवोंका कथन है वह सब पुद्गल विपाकके भोगभावका विभिन्न प्रकारके चरित्र द्वारा प्रगटपना है। इस प्रकार इन दोनों पराचरण औदयिक भावोंके विभिन्न प्रकारके रूप द्वारा उन्हींका दरसाव होता है अर्थात् वे ही प्रगट होते हैं। ऐसे इन दोनोंके सर्व ही भावोंको चारित्र नामसे कहते हैं। इस प्रकारका वह चारित्र कथन भी द्वादशांगमें प्रचलित है।

इति चरितानुवाद।

(६) यथास्थितिवाद

अहमज्झउड्ढलोया लोयालोया हि सव्वदव्वाणि ।
सासयं चिट्ठंति जहा, जहाठियेतं भणइ समये ॥ ६ ॥

अधः मध्य उर्द्धव लोकाः लोकालोका हि (षट्) सर्वे द्रव्यानि ।
शाश्वतं तिष्ठंति यथा, यथास्थितं भणति समये ॥ ६ ॥

अधमध्यऊर्ध्वलोकाः त्रैलोक्य लोकालोकावा षट् सर्व द्रव्यानि हि स्फुटं यथा येन येन प्रकारेण शाश्वतं नित्यं तिष्ठन्ति तं यथा शाश्वतं भावं समये परमागमे यथास्थितं भणति ।

जो अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक हैं तथा लोक-अलोक हैं तथा छह द्रव्य हैं वे सब अपनी अपनी शाश्वत स्थितिसे जैसे जैसे स्थित हैं उस शाश्वत स्थितिको जिनागममें यथास्थिति कहते हैं ।

भावार्थ :—सात नरकोंकी जैसी शाश्वत स्थिति है, असंख्यात द्वीप समुद्रोंकी, सोलहस्वर्ग, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश, पंच पंचोत्तर (विजयादि) विमान, सिद्धशिला, सर्व (तीनों) वातवलय–इनकी जैसी शाश्वत स्थिति है वैसी स्थिति सदा शाश्वत रहती है । तथा लोकाकाशकी और अलोकाकाशकी जैसी स्थिति है वैसी स्थिति शाश्वत है । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छहों द्रव्य अपने अपने जैसे जैसे गुणों द्वारा अपनी अपनी जैसी जैसी पर्यायों द्वारा सदा शाश्वत स्थितिसे स्थित हैं; अपनी अपनी भिन्न भिन्न सत्ता द्वारा अपनी अपनी जैसी जैसी स्थिति है, वैसी स्थितिसे कभी भी चलायमान नहीं होते । सदा जैसेके तैसे ही रहते हैं, उसका नाम यथास्थिति-भाव है ऐसा यथास्थितिभावका कथन भी द्वादशांगमें प्रचलित है ।

इति यथास्थितिवाद ।

(७) ज्ञेयवाद

णाणस्स जाव विसया, सपर सव्व दव्व गुणा तिपज्जाया ।
सहाव विहावभावा. णेयं हवदि तं खलु समये ॥ ७ ॥

ज्ञानस्य यावद्विषयाः, स्वपरसर्वद्रव्यगुणाः त्रिपर्यायाः ।
स्वभाव विभावभावाः, ज्ञेयं भवति तं खलु समये ॥ ७ ॥

यावद्विषयाः पदार्था ते तावत् ज्ञानस्य ज्ञेयं ज्ञातुं योग्यं भवति । ते के ? स्वपरसर्वद्रव्यगुणा, अतीत–अनागत–वर्तमानाः त्रय पर्यायाः, स्वभाव विभावाः, निज वस्तु जातिभाव, पर विकार भावा, खलु स्फुटं तं ज्ञेयं समये आगमे भणितं ।

जितनी भी वस्तु हैं, उतनी सब ज्ञानके जाननेके योग्य होती हैं । वे कौन ? जितने भी निजद्रव्यगुण–परद्रव्यगुण हैं, और जितनी भी अतीत, अनागत, वर्तमान द्रव्यकी पर्यायें हैं, और जितने भी निज–निजभाव, परभाव हैं, वे सब प्रगट हैं । उन सबको आगममें ज्ञेयभाव कहा है ।

भावार्थ : —हे भव्य ! यह जो ज्ञान अर्थात् जानना है, उस जाननेमें जितना भी जानना है, वह सब ज्ञेय नाम पाता है । वह क्या क्या है ? जानना गुण निज द्रव्य सत्ताको जानता है, एक निज द्रव्यके अनन्त गुणोंको जानता है, उन एक एक निज गुणकी अनन्त शक्तिको जानता है; तथा निज द्रव्य-गुणका परिणमन तीनोंकालका भिन्न–भिन्न जानता है । तथा जानना स्वयं है, अपने जाननेरूप (ज्ञायकरूप)को भी जानता है । इसी प्रकार परद्रव्योंको भिन्न–भिन्न जानता है, उन एक एक परद्रव्यके अनन्त गुणोंको जानता है, उन एक एक पर गुणकी अनन्तशक्ति जानता है, तथा उन पर द्रव्य–गुणोंका परिणमन तीनों कालका भिन्न भिन्न जानता है । तथा छह

द्रव्योंके गुण–पर्यायोंके निज जाति स्वभावरूप भावको भिन्न जानता है। तथा जीवके परभावको भिन्न जानता है, पुद्गलके परभावको भिन्न जानता है। संसार परिणति और मुक्ति परिणतिको जानता है।

भावार्थ—जितना द्रव्य–गुण–पर्यायभाव है, उतना सब साक्षात् जानता है। ऐसा जो कुछ भी है, सर्व ज्ञान गुणके जाननेके गोचर होना, वह सब ज्ञेय नाम पाता है। ज्ञानके गोचरको आगममें ज्ञेय कहा जाता है सो जानना।

इति ज्ञेयवाद।

(८) हेय व्याख्या

जह ससहावे परिणमदि, तह विभावो सयं सहयेण हीयदि।
तं तत्थ हेयभावं, हेयभावमिणयं जिणणिद्दिट्ठं ॥ ८ ॥

यथा स्वस्वभावे परिणमति, तथा विभावो स्वयं सहजेन हीयति।
तं तत्र हेयभावं, हेयभावमिदं जिननिर्दिष्टं ॥ ८ ॥

स्वस्वभावे ज्ञानदर्शनचरित्रात्मनि निजजातिस्वरूपे यथा येन येन क्रमेण परिणमति, चरति, तिष्ठति वा अनुभवति वा विश्रामति, तथा तेन तेन क्रमेण विभावो विकारभावः तत्र तस्मिन्काले सहजेन अयत्नपूर्वकेन स्वयं हीयति नश्यति विलयं याति तं हेयभावं नास्तिभावं इदं जिननिर्दिष्टं जिनकथितं।

अर्थ—यह आत्मा अपने निज जातिरूपमें जैसे जैसे परिणमता है–विश्राम लेता है तैसे तैसे अशुद्ध भाव उसी कालमें यत्न विना ही अपने आप ही नाश हो जाता है। वह अशुद्ध भाव अनित्य भाव है। यह हेय भाव जिनवचनमें कहा है।

भावार्थ :—हे भव्य, यह चारित्रगुण जैसे जैसे निज स्वरूपको प्राप्त होता है, वैसे वैसे स्थिर विश्राम लेता है, उसी उसी कालमें सर्व गुणोंकी अशुद्धता–विकारभाव–अनित्यभाव–क्षणभंगुरभाव अपने आप ही नष्ट होती जाती है—विलय होती जाति है—अतः उसे जिनदेवने हेयभाव कहा है। ऐसा हेयभावका कथन जिनागममें प्रचलित है, ऐसा जानना।

इति हेय व्याख्यानं।

(९) उपादेय स्वरूप व्याख्यान

ससमयस्स समयपत्तो णियसरूवमायरइ परिणामेहिं।
परिणमदि वा ससरूवं, तमुवादेयं भणइ जिणो ॥ ९ ॥

स्वसमयस्य समयप्राप्तौ, निजस्वरूपमाचरयति परिणामैः।
परिणमति वा स्वस्वरूपं, तं उपादेयं भणति जिनः ॥ ९ ॥

समयप्राप्तौ काललब्धिप्राप्तौ सति स्वसमयस्य चारित्रस्य निजस्वरूपस्य परिणामैः आचरयति व्याप्नोति वा अथवा एवं स्वरूपं परिणमति तं स्वस्वरूपं उपादेयं आचरणं जिन भणति।

अर्थ :—जसे जैसे काललब्धिकी प्राप्ति होती जाती है उस उस काललब्धिकी प्राप्तिमें स्वचारित्रगुणका आचरण परिणामों द्वारा व्यक्त होता है, अथवा इस प्रकार भी कहो, वह स्वरूपाचरण ही प्रवर्तता है। उसी स्वचरण परिणमनको (स्वरूपाचरणके परिणमनको) जिनदेव उपादेय संज्ञा द्वारा कहते हैं।

[हेय-उपादेयपना जीवकी परिणतिका नाम है १. द्रव्यकी शुद्धता प्रगट करनेके अर्थमें उपादेय है, २. अशुद्धता हेय है और ३. आश्रय करनेके अर्थमें तो त्रैकालिक निज परमात्म–द्रव्य ही उपादेय है।]

भावार्थ :—जो जो स्व-चारित्रकी शक्तियाँ विकाररूप हो रही हैं, वह वह काललब्धि प्राप्त होने पर (निज) परिणामोंके परिणमनसे उस स्वचारित्रका निजरूप होता है वही स्वरूप ग्रहण है। इस प्रकार कोई कहे कि उस स्वचारित्रका स्वरूप प्रगट होकर प्रवर्तता है वह भी स्वरूप ग्रहणका ही कथन है, ऐसे प्राप्तिरूप स्वरूपके 'परिणमनको उपादेय संज्ञा जिनदेवने भी कही है, उसे 'उपादेय' आगममें जानना। इति उपादेय स्वरूप व्याख्यानं।

संसारपरिणतिका नास्तिपना वह 'हेय' जानना और स्वरूपकी शुद्धताका प्रगट होना वह उपादेय जानना। एक ही कालमें दोनों होते जाते हैं। यही निश्चय हेय-उपादेय जानना। व्यवहारसे परपरिणति राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभादि सर्व अवलम्बन हेय करना। संसारी जीवोंको एक चित् आत्मपिण्डमें अवलम्बन करना, वैराग्य, उदासीनता, (तथा) संवरको उपादेय करना, ऐसा उपदेश करना। इस प्रकार व्यवहार हेय उपादेय जानना।

(१०) व्यवहार वर्णन

पज्जाय भावना सव्वे, सव्वे भेय करणा च जोग खिरणाहि।
ससहाव दोणकधणा तं ववहारं जिणभणिदं ॥ १० ॥

पर्यायभावना सर्वे, सर्वे भेद करणा च जोग क्षरणाहि।
स्वभाव तो अन्य कथना, तं व्यवहारं जिनभणितं ॥ १० ॥

सर्वे पर्याय भावनां सर्व पर्याय जाता भावा व्यवहारं

१. संवर-निर्जरा और मोक्षपर्याय प्रगट करनेके अर्थमें उपादेय है।

भवंति हि स्फुटं। सर्वे भेदा करणाभावा व्यवहारं भवंति च पुनः जोग क्षरनाव बन्धमोक्ष व्यवहारं भवंति, पुनः स्वभावतः अन्य कथना अन्य वादा व्यवहारं भवंति, तं व्यवहारं जिन भणितं कथित।

सर्व जितने भी पर्यायके भाव होते हैं वे सर्व व्यवहार नाम पाते हैं और जितने भी एकके अनेक भेद करना, वे वे सर्व व्यवहार नाम पाते हैं। और जितना भी बन्ध और मुक्त, उतना सर्व व्यवहार नाम पाता है। स्वभावसे जो अन्य भाव हैं, वे सर्व व्यवहार नाम पाते हैं। वही व्यवहार जिन आगममें कहा है।

भावार्थः—आकाशमें सर्व द्रव्योंका रहना, जीव पुद्गलादिको धर्म–अधर्म, गति, स्थितिमें सहकारी होना, अथवा सर्व द्रव्योंके परिणाम परिणमानेको कालकी वर्तना सहकारी होना तथा पुद्गलादिकी गति द्वारा कालद्रव्यका प्रमाण परिमाण उत्पन्न होता है, छहों द्रव्य परज्ञेय ज्ञानमें हैं, ज्ञान छहों परज्ञेयमें, ज्ञान–दर्शन–गुणोंकी एक एक शक्ति एक एक स्व परज्ञेय भेदोंके प्रति लगाना, ऐसे ऐसे भाव तथा परस्पर सर्व द्रव्योंको मिलाप होना, ऐसे ऐसे पर्यायोंके भाव तथा विकार उत्पन्न हुआ, स्वभाव नष्ट हुआ, पुनः स्वभाव उत्पन्न हुआ, विकार नष्ट हुआ, जीव उत्पन्न हुआ, जीवका मरण हुआ, यह पुद्गल स्कन्धरूप हुआ या कर्मरूप हुआ या अविभागी पुद्गल हुआ, संसार परिणति नष्ट हुई, सिद्ध परिणति उत्पन्न हुई, तथा मोह, अन्तराय कर्मोंकी रोक नष्ट हुई। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त स्वचरित्र, अनन्त वीर्य द्वारा प्रगट हुए। मिथ्यात्व नष्ट हुआ, सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ, अशुद्धता नष्ट हुई, शुद्धता उत्पन्न हुई, पुद्गलसे जीव बन्धको प्राप्त हुआ, जीवका निमित्त प्राप्त होने पर पुद्गल कर्मरूप हुए। जीवने कर्म नष्ट किये,

यह यह उत्पन्न हुआ, यह यह नष्ट हुआ, वह उत्पन्न हुआ, वह नष्ट हुआ, ऐसे ऐसे पर्यायोंके भाव ऐसे ऐसे पर्यायोंके उत्पन्न और नष्ट भाव सर्व व्यवहार नाम पाते हैं ।

तथा एक आकाशके लोक–अलोक भेद करना, कालकी वर्तनाका अतीत, अनागत, वर्तमान भेद करना । तथा इसीप्रकार एक वस्तुका द्रव्य, गुण, पर्यायसे भेद करना । एक सत्का उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे भेद करना । एक वस्तुका कर्ता–कर्म–क्रियासे भेद करना, एक जीववस्तुका बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा; एक द्रव्य समूहका असंख्यात अथवा अनन्त प्रदेशोंसे भेद करना । एक द्रव्यका अनन्त गुणोंसे भेद करना, एक गुणका अनन्त शक्तियोंसे भेद करना एक पर्यायका अनन्त परिणामोंसे भेद करना, एक वस्तुका अस्ति विधिसे, नास्ति–अविधिसे भेद करना । एक वस्तुका द्रव्य, सत्त्व, पदार्थ, गुणी, पर्यायी, अन्वयी, अर्थ, नित्य ऐसे ऐसे नाम भेद करना । एक जीवका आत्मा, परमात्मा, ज्ञानी, सम्यक्त्वी चारित्री, सुखी, वीर्यधारी, दर्शनी, (दर्शनवन्त), सिद्धवत, चेतन, चिदानन्द, चित्–दर्शन–ज्ञान–चारित्र, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सुखी, मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी—इस प्रकार नाम भेद करना । ज्ञान, बोध, ज्ञप्ति, सम्यक्त्व, आस्तिक्य, श्रद्धान, नियत प्रतीति–यत्तत् (वह), एतत् (यह) तथा चारित्र, आचरण, स्थिर–विश्राम, समाधि, संयम, एकान्त मग्न स्थगित अनुभवन, प्रवर्तन, सुख, आनन्द, रस, स्वाद, भोग, तृप्ति, संतोष, वीर्यबल, वीर्य-शक्ति, उपादान, तेज, ओज । एक अशुद्धका विकार, विभाव, अशुद्ध, समल, परभाव, संसार, आस्रव, रंजकभाव, क्षणभंग, भ्रम

और अन्यत् (कोई एक) एक एकके इस प्रकार नाम द्वारा भेद करना।

एक ज्ञानका मति श्रुत अवधि, मनःपर्यय, केवल पर्यायसे भेद करना। एवं अन्यत् (इसी प्रकार और भेद करना)। ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि एक एकके कुछ, थोड़ा, जघन्य, उत्कृष्टसे परिणति भेद करना। एकके अनेक भेद करना। एक वस्तुका निश्चय व्यवहार-परिणति भेद करना। इस इस प्रकार एकका भेद करना, वे सब भेदभाव व्यवहार संज्ञाको प्राप्त हैं।

गुण बन्ध-गुणमोक्ष, द्रव्यबन्ध-द्रव्यमोक्ष ऐसे ऐसे सर्व भावोंको भी व्यवहार कहते हैं, तथा विकार, काल भावके वशसे स्वभाव छोड़कर द्रव्य-गुण-पर्यायोंको अन्य ही भाव कहना। ज्ञानीको अज्ञानी, सम्यक्त्वीको मिथ्यात्वी, स्वसमयीको परसमयी, सुखीको दुःखी, अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुख-वीर्यको कतिपय (कुछ, थोड़ासा) कहना।

ज्ञानको अज्ञान, सम्यक्त्वको मिथ्यात्व, स्थिरको चपल, सुखको दुःख, उपादेयको हेय, अमूर्तिकको मूर्तिक, परमशुद्धको अशुद्ध, एक प्रदेशी पुद्गलको बहुप्रदेशी, पुद्गलको कर्मत्व, एक चेतनरूप जीवको मार्गणा गुणस्थानादि जितनी परिणतियोंसे निरूपण करना। तथा एक जीवको पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, मोक्ष परिणति द्वारा निरूपण करना। तथा जितना वचनपिंड द्वारा कथन वह सब व्यवहार जानना। तथा आत्मासे भिन्न अन्य सबको व्यवहार कहते हैं। स्वभावसे अन्य जो ऐसे ऐसे भाव देखते हैं, जानते हैं, वे सब व्यवहार संज्ञाको प्राप्त होते हैं। तथा एक सामान्यसे समुच्चयसे व्यवहारका इतना

---

* वचनपिंड भाषावर्गणा

अर्थ जानना, इतना ही व्यवहार जानना—" जिस भावका वस्तुसे अव्यापकरूप सम्बन्ध है, व्याप्य–व्यापक एकमेक सम्बन्ध नहीं है वह व्यवहार संज्ञाको प्राप्त होता है " ऐसा व्यवहार भावका कथन द्वादशांगमें प्रचलित है सो जानना । इति व्यवहारः ।

(११) निश्चय लक्षण

जेसिं गुणाणं पचयं, णियसहावं च अभेवभावं च ।
दव्व परिणमनाधीनं, तं णिच्छय भणियं ववहारेण ॥ ११ ॥

येषां गुणानां प्रचयं, निजस्वभावं च अभेदभावं च ।
द्रव्यं परिणमनाधीनं, त निश्चयं भणितं व्यवहारेण ॥ ११ ॥

येषां गुणानां प्रचयं एक समूहं तं निश्चयं । पुनः येषां द्रव्य-गुण-पर्यायाणां निजस्वभावं निज जाति स्वरूपं तं निश्चयं । पुनः येषां द्रव्य–गुणानां गुणशक्ति पर्यायाणां यं अभेदभासं एक प्रकाशं तं निश्चयं । पुनर्येषां द्रव्याणां यं द्रव्य परिणमनाधीनं तस्य द्रव्यस्य परिणाम आश्रयं भावं त निश्चयं, एतादृशं निश्चयं व्यवहारेण वचनद्वारेण भणितं वर्णितं ।

अर्थः—जिन जिन अनन्त निज गुणोंका जो परस्पर एक ही समूह–पुँज वह निश्चयका रूप जानना । तथा निज निज द्रव्य–गुण–पर्यायोंकी जो निज केवल जातिस्वरूप वह भी निश्चयका रूप जानना । एक द्रव्यके अनन्त गुणोंका, एक गुणकी अनन्त शक्ति पर्यायोंका जो एक ही स्वरूप द्वारा भाव प्रगट होता है वह भी निश्चयभाव जानना । और जिस द्रव्यके परिणामोंके परिणमनके आधीन द्रव्यके भावका उस ही द्रव्यके परिणामरूप परिणमना अन्य परिणामरूप न परिणमना सो निश्चय जानना । ऐसे ऐसे भावोंको वचन द्वारसे निश्चय संज्ञा कही है ।

भावार्थः—हे संत ! जो ये निज निज अनन्त गुण मिलकर एक पिंडभाव–एक सम्बन्ध हुआ, उसे गुणोंका पुंज कहते हैं । उस गुण पुंजका ' वस्तु ' ऐसा नाम कहते हैं । सो यह वस्तुत्व नाम गुणोंके पुंजके बिना अन्य किसको कहना ? इस गुण पुंजको वस्तु कहते हैं । इस वस्तुत्वकी निश्चय संज्ञा जानना ।

जो जो जिस जिसरूप धारण किये हुए जो जो गुण उत्पन्न हुआ है, वह वह अपना अपना रूप धारण करता है । गुणका अन्य गुणोंसे अपना पृथक्रूप अनादि अनन्त रहता है इस पृथक् रूपको निज जाति कहते हैं । आप ही आप अनादि निधन है । वह रूप किसी अन्य रूपसे नहीं मिलता । जो रूप वही गुण, जो गुण वही रूप ऐसा तादात्म्य लक्षण है । जो कोई इस रूपकी नास्ति चिंतवन करे तो उसने गुणकी नास्ति चिंतवन करी । ऐसा जो आप ही आप रूप है उस रूपको निज जातिस्वभाव कहते हैं । ऐसे निजरूपको निश्चय संज्ञा कहते हैं ।

पुनः अनन्त गुणोंका एक पुंज भाव देखना तथा भिन्न नहीं देखना, पुनः अनन्त शक्तिवान् जो गुण है उस एक गुणको देखना, उन शक्तियोंको न देखना, तथा जघन्य उत्कृष्ट भेद न देखना, ऐसा जो अभेद दर्शन–एक ही रूपका दर्शन है उस अभेद दर्शनको भी निश्चय संज्ञा कहते हैं ।

पुनः हे सन्त ! गुणके पुंजमें कोई गुण तो नहीं है, यह तो निःसंदेह इसी प्रकार है । परन्तु वह भाव उन गुणोंका परिणाम धारण कर परिणमता है वह भाव इन गुण परिणामोंसे भिन्न नहीं है उसी भावसे पूर्ण परिणमता है । वह कहाँ पाया जाता है ?

जैसे पुद्गल वस्तुमें स्कंध कर्म विकार कोई गुण तो नहीं है, परन्तु इस पुद्गल वस्तुके परिणाम उस स्कंध कर्म विकार-भावका स्वांग धारण किये हुए परिणमते हैं। अन्य द्रव्यके परिणाम इस कर्म विकारभावको धारण कर परिणमन करते हैं। यह एक पुद्गल ही निःसंदेह स्वांग धारण कर वर्तता है। पुनः इस जीव वस्तुके परिणाम रंजक, संकोच विस्तार, अज्ञान, मिथ्यादर्शन, अविरतादि चेतना विकारभाव हुए परिणमन करते हैं, सो ऐसा चेतन विकारभाव जानना। तथा (वे विकारभाव) उस चेतनद्रव्यके परिणामोंमें तो पाये जाते हैं अचेतन द्रव्यके परिणामोंमें तो कभी भी नहीं पाये जाते हैं यह निःसंदेह है। ऐसे विकारभाव अपने ही अपने द्रव्य परिणामोंमें ही होते हैं, उसी उसी द्रव्यके परिणाम आश्रित पाये जाते हैं, वह भी निश्चय संज्ञाको प्राप्त होते हैं। इति निश्चय।

चकारसे अन्य भी निश्चय भाव जानने। जितनी निज वस्तुकी परिमिति (सीमा) उतनी परिमितिमें ही द्रव्य–गुण–पर्याय, व्याप्य–व्यापक होकर वर्तता है उस वस्तुकी सीमाके बाहर नहीं। अपनी अपनी सत्तामें व्याप्य–व्यापक होकर अनादि अनन्त रहते हैं। इसको भी निश्चय कहते हैं। तथा जो भाव जिस भावका प्रतिपक्षी बेर–(शत्रुता) करता है, वह उसीसे बैर (शत्रुता) करता है, अन्यसे नहीं करता है. वह भी निश्चय जानना। तथा जो प्रतिज्ञा करना, नियम करना, उसे भी निश्चय कहते हैं। तथा जो जिस कालमें जैसी जो होनी है, वैसी ही वह होती है उसे भी निश्चय कहते हैं। तथा जिस जिस भावकी जैसी जैसी रीतिसे प्रवर्त्तना है वैसी वैसी रीति प्राप्त होने पर परिणमता है उसे भी निश्चय कहते हैं। तथा एक आपका. स्वद्रव्यका, भी निश्चय नाम है। तथा एक है.

एकरूप गुण मुख्य लेने पर अन्य सर्व अनन्त निज गुणरूप, उस गुणरूपके भाव होते हैं ।

भावार्थः—कथनमें तो एक भिन्न रूप लेकर कहते हैं, परंतु वही एक गुणका रूप है, वही सर्व रसका (रूप) है तथा जो कोई इसी प्रकार मानता है—एक रूपमें अन्य रूप नहीं है, एक ही है, वहाँ अनर्थ उत्पन्न होता है । जैसे एक ज्ञानगुण है, उस ज्ञानमें अन्य नहीं है, तो उस पुरुषने वह ज्ञान चेतनरहित, अस्तित्व, वस्तुत्व, जीवत्व, अमूर्त्तादि सर्वरहित माना । वह तो माना, परन्तु वह ज्ञानगुण कैसे रहा ? किस रीतिसे रहा ? वह न रहा । अतः यहाँ यह बात सिद्ध हुई कि

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥ ३२१ ॥

तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कइ चालेदुं इन्दो वा तह जिणिंदो वा ॥ ३२२ ॥

भावार्थः—जो जिस जीवके, जिस देशमें, जिस कालमें, जिस विधानसे, जन्म तथा मरण उपलक्षणसे दुःख, सुख, रोग, दारिद्र आदि सर्वज्ञदेवने जाना है वह वैसे ही नियमसे होगा, वही उस प्राणीके, उस ही देशमें, उसी कालमें, उसी विधान द्वारा नियमसे होता है उसको इन्द्र तथा जिनेन्द्र, तीर्थंकरदेव कोई भी निवारण नहीं कर सकते हैं ।

("स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा")

जो जो देख्यो वीतरागने सो सो होसी वीरा रे ।
बिन देख्यो होसी नहीं कोई काहे होत अधीरा रे ॥ १ ॥

समयो एक बढ़े नहीं घटसी जो सुख दुखकी पीरा रे ।
तू क्यों सोच करै मन कूड़ो होय वज्र ज्यौं हीरा रे ॥ २ ॥

ब्रह्मविलास, परमार्थ पद पंक्ति, २२वाँ राग-माढ ।

जो एक एक गुण रूप है वह सर्व स्वरस है। इस प्रकार सर्व स्वरसको भी निश्चय कहते हैं।

तथा कोई द्रव्य किसी द्रव्यसे नहीं मिलता, कोई गुण किसी गुणसे नहीं मिलता, कोई पर्याय शक्ति किसी पर्याय शक्तिसे नहीं मिलती, इस प्रकार जो अमिश्रण–(पृथक्) भाव उसे भी निश्चय कहते हैं।

निश्चयको सामान्य अर्थसे इतना कहना–संक्षेपसे इतना ही अर्थ जानना–"निज वस्तुसे जो भावका व्याप्य–व्यापक एकमेक सम्बन्ध सो निश्चय जानना"। कर्त्ता भेदमें कर्म भेदमें भी, क्रिया भेदमें भी. इन तीन भेदोंमें एक ही भाव देखना, ये तीनों एक भावके उत्पन्न हुए, ऐसे एक भावको भी निश्चय कहते हैं। स्वभाव गुप्त है अथवा प्रगट परिणमता है परन्तु नास्ति तो नहीं है, ऐसे अस्तित्वभावको निश्चय कहते हैं। ऐसे ऐसे भावोंको निश्चय संज्ञा जाननी। ऐसा जिनागममें कहा है।

इति निश्चय संपूर्णम्।

---

(१२) साक्षात् धर्म

गुण णियसहावं खलु पज्जायससहाव दव्वं च।
अप्पा किल परमप्प धम्मं, तं धम्मंवायं हि वोधव्वा ॥ १२ ॥

गुण निज स्वभावं खलु, पर्याय स्वस्वभावं द्रव्यं च।
आत्मा किल परमात्म धर्मं तं धर्मवादं हि ज्ञातव्याः ॥ १२ ॥

खलु निश्चयेन आत्मा किल सर्वथा अनन्तगुण निजस्वभावं निजजातिस्वरूपं–यं यातं तं परमात्मधर्मं उत्कृष्ट केवल रुपं, पुनः

आत्मा सर्वथा पर्याय स्वस्वभावं यं यातं तं परमात्मधर्मं उत्कृष्ट स्वभावं पुनः आत्मा सर्वथा स्वभावद्रव्यं यं यातं तं परमात्मधर्मं उत्कृष्ट स्वभावं एतादृशं उत्कृष्टभावं तं जिनसमये धर्मवादं–स्वभावरुप कथनं–हि यथा स्यात्तथा ज्ञातव्याः ।

अर्थः—निश्चयसे आत्माके अनन्तगुण जब सर्वथा अपने निज जातिरूपको प्राप्त हुए तब आत्माको परमस्वभाव कहते हैं । उसके द्वारा आत्माकी सर्वथा षट् गुणी हानि–वृद्धि पर्याय निज जातिरूप उत्पन्न हो तब आत्माका परमस्वभाव कहते हैं तथा जब जब आत्माका द्रव्य, प्रदेशोंमें निःप्रकंप निजस्वभावरूप सर्वथा उत्पन्न हुआ, तब उस आत्माका परमस्वभाव कहते हैं । ऐसे केवल–सर्वथा द्रव्य–गुण–पर्याय स्वभावरूपको ही प्राप्त हुए । ऐसा भावका कथन जिनागममें जानना ।

भावार्थः—अनादिकालसे पुद्गल निमित्त प्राप्त होने पर इस आत्माके ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, आत्माचरण, वीर्य, आत्म-भोगादिगुणः इस प्रकार अज्ञान, अदर्शन, मिथ्यात्व, अवीर्य (निर्बल), पराचरण, परभोगादि विकाररूप परभावरूप हुए । फिर जैसे जैसे काललब्धि प्राप्त हुई, वैसे वैसे वह परभाव क्षय होता गया, स्वभाव प्रगट होता गया इस प्रकार होते होते जिस कालमें वह परभाव सर्वथा नष्ट हुआ, उसी समयमें सर्वथा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्यादि, अनन्तगुण निजरूपसे केवल प्रगट हुए–सर्वथा अपने ही रूप हुए–अन्यथारूप नष्ट हो गया–सर्वथा साक्षात् गुणोंका निजरूप ही रहा, तथा कथंचित् अन्यका लगाव× गया, साक्षात् निज जातिरूप हुआ सो ऐसा आत्माके गुणोंका परमभाव जानना । तथा उसीकाल उनही साक्षात् गुणोंकी पर्याय परिणमन एक

× लगाव = सम्बन्ध

समय सूक्ष्ममें षट्गुणी हानि–वृद्धिसे स्वस्वरूप हुई; वह पर्याय साक्षात् केवलरूप उत्पन्न हुई । ऐसी षट्गुणी हानि–वृद्धि सूक्ष्म-पर्यायके स्वस्वरूपको भी आत्माका परमभाव कहते हैं ।

तथा जीवद्रव्यके प्रदेशोंका कायादियोग पुद्गलवर्गणाके उठने–बैठनेके निमित्तसे संकोच विस्ताररूप कंपन होता था, तथा जब कायादि पुद्गल वर्गणाओंका सर्वथा प्रकारसे अभाव हुआ, तब जीवद्रव्यके प्रदेशका वज्रवत् निःप्रकंपस्वभाव सर्वथा साक्षात् हुआ, ऐसा भी आत्माका परमभाव जानना ! ऐसे द्रव्य–गुण–पर्याय तीनों सर्वथा साक्षात् परम स्वरूपरूप हुए, तब इस आत्माके केवल निजस्वभाव ही धर्म होता है एक सर्वथा निजजाति केवल एक स्वरूपरूप प्रवर्तना है, इस कारणसे इस आत्माका ऐसा ही धर्म कहते हैं । क्योंकि वहाँ उस कालमें निजहीरूप है, अन्य कुछ भाव नहीं है । अतः 'धर्म' ऐसा आत्मा कहा जाता है । सो ऐसा साक्षात् धर्मका कथन जिनागममें जानना ॥ इति साक्षात् धर्मः ॥

---

(१३) बहिर्धर्म

जत्थ गुणविभावं सिय पज्जाय विभावं च दव्वविभावं च ।
अप्पा किल बहिधम्मं, पुणो तं अधम्मवायं णायव्वा ॥ १३ ॥

यत्र गुणविभावं स्यात् पर्याय विभावं च द्रव्यविभावं च ।
आत्मा किल बहिर्धर्मं पुनः तं अधर्मवादं ज्ञातव्यः ॥ १३ ॥

यत्र यस्मिन् काले आत्मा गुणविभावं गुणविकारं यं किल सर्वथा स्यात् तं बहिर्धर्म, पुनः आत्मा पर्याय विभावं यं किल

सर्वथा स्यात् तं वहिःधर्मं पुनः आत्मा द्रव्य विभावं यं किल सर्वथा स्यात् तं वहिःधर्म, एतादृशं वहिःधर्म अधर्मवादं–अस्वभाववादं–परस्वभाव कथनं जिनागमे ज्ञातव्यः ।

अर्थ—जिस कालमें आत्माके गुण सर्वथा परभावरूप होते हैं उस कालमें आत्माको बहिरस्वभाव कहते हैं । जिस-कालमें आत्माकी पर्याय सर्वथा विकाररूप होती है उस कालमें इस आत्माको वर्हिधर्म कहते हैं । तथा जिस कालमें आत्माका द्रव्य+ सर्वथा विकाररूप परिणमित होता है उस कालमें इस आत्माको वर्हिधर्म कहते हैं । ऐसा अधर्मका कथन जिनागममें जानना ।

भावार्थ—अज्ञान, अदर्शन, मिथ्यात्व, पराचरण, अवीर्य, पररस, भोग इत्यादि जो गुणोंका विकारभाव है वह एक अक्षरके अनंतवें भाग विकार छोड़कर अन्य सर्वथा विकाररूप हुआ, गुण सर्वथा उस विकारभावरूप होते हैं स्वभावरूप कुछ भी नहीं । ऐसे सर्वथा गुणके विभावको वर्हिधर्म कहते हैं । तथा जो गुण ही सर्वथा विकाररूप हुए, तो उनके परिणाम, परिणमनभाव सहज ही सर्वथा विकाररूप हुए । जैसे पानी रंगा गया तो उसकी लहर रंगीन सहज ही हो गई । ऐसी विकार पर्याय स्थूल पर्याय है । वह विकार परिणाम इन्द्रियज्ञान द्वारा कुछ जाना जाता है । वह क्या है ?

बहुत काल तक उस एक विकारभावके परिणमन प्रवाहित होते रहते हैं, वह स्थूल कालके प्रवाहसे जाना जाता है, ऐसी गुणोंकी सर्वथा विकार स्थूलपर्याय भी आत्माका वर्हिस्वभाव है । तथा जब गुण–पर्याय सर्वथा विकाररूप हुए तब द्रव्य तो

+ सर्वथा विकाररूप अर्थात् मिथ्यात्वरूप पराश्रयरूप अशुद्धदशा ।

(उसी समय पर्याय अपेक्षा) स्वयं ही सर्वथा विकाररूप हुआ। जैसे सर्व तंतु रंगीन हुए तो वस्त्र सहज ही सर्वथा रंगीन हुआ। तंतुसे वस्त्र कहीं पृथक् नहीं था। तंतुओंके मिलापको ही वस्त्र कहते हैं। इस प्रकार द्रव्य सर्वथा विकारी हुआ तब उस आत्माको बहिर्भाव कहते हैं। ऐसे सर्वथा विकाररूप द्रव्य–गुण–पर्यायको आत्माका (विभावरूप अनित्यस्वभाव) बहिर्स्वभाव कहते हैं, क्योंकि अपनी वस्तुमें[1] कुछ भाव नहीं होता है, परन्तु[2] अन्य ही परभाव–विकारभाव–वस्तु समुदायसे बाहरका ऊपरीभाव हुआ है अतः इसको बहिर्धर्म कहते हैं। तथा यह आत्मधर्म नहीं है अतः इसको आत्माका अधर्मभाव कहते हैं। इति बहिर्धर्मः ॥ १३ ॥

(१४) मिश्रधर्मकथन

गुण धम्माधम्मं परिणमदि, दव्व पज्जायं च धम्माधम्मं फुडं।
मिस्सधम्मं जया अप्पा, तं मिस्सधम्मं भणइ जिणो ॥ १४ ॥

गुण धर्माधर्मं परिणमति, द्रव्यं पर्यायं च धर्माधर्मं स्फुटं।
मिश्रधर्मं यदा आत्मानं मिश्रधर्मं भणंति जिनोः ॥१४॥

यदा यस्मिन् काले स्फुटं प्रगटं आत्मा गुण धर्माधर्मं परिणमति, गुणस्वभाव (गुणस्वभावो) विभावं परिणमति यं तं मिश्रधर्मं विकारकलंकनिजस्वभावं, पुनः तदा आत्मपर्यायं द्रव्यं धर्माधर्मं सहजेन आयातं तं मिश्रधर्मं एतादृशं मिश्रधर्मं जिनो भणति कथयति।

---

१ नित्य ऐसे वस्तुस्वभावमें अशुद्धता कैसी ?

२ अनित्य ऐसे पर्याय स्वभावमें

अर्थ—जिसकालमें आत्माके गुण धर्माधर्मरूप परिणमते हैं, उस कालमें प्रगट आत्माको मिश्रधर्म कहते हैं तथा जब द्रव्यरूप आत्माके गुण मिश्रधर्मरूप हों, तब आत्माके पर्याय तो सहज ही मिश्रधर्मरूप हुए; ऐसे आत्माके मिश्रधर्मको जिनेन्द्रने प्रगट कहा है।

भावार्थ—जब निकट भव्य जीवको काललब्धि प्राप्त हुई तब जो पूर्वमें मिथ्यात्वरूप परभेष धारण किये हुए प्रवर्तन कर रहा था वह प्रवर्तन समाप्त हुआ–नष्ट हुआ। उसी कालमें निज स्वाभाविक स्वरूप द्वारा व्यक्तरूप प्रवर्तन हुआ। उस भव्य जीवको निजरूप क्या प्रगट हुआ? वह कहते हैं—

जीवका एक सम्यक्त्व गुण है। उस गुणका लक्षण आस्तिक्य अर्थात् प्रतीति–दृढ़ता–यह बात इसी प्रकार है, इसमें हलचल नहीं है, ऐसी आस्तिक्य शक्ति है। उस आस्तिक्य शक्तिके दो भाव होते हैं–एक निज जातिभाव और एक विकाररूप औपाधिक द्वेषरूप—अर्थात् निजजातिसे अन्य ऐसा भाव। उस आस्तिक्य शक्तिका अनादिसे निज जातिभाव तो गुप्त है। परभावका भेष प्रगट होकर आस्तिक्य शक्ति प्रवृत्त हुई। वह परभावरूप धारण करती है। आस्तिक्य शक्ति कैसी है?

जो भ्रम है, झूठ है, मिथ्या है, जो कुछ (प्रयोजनभूत तत्त्वमें) मिथ्या बात है उनको ठीक माननेरूप (मिथ्यात्वका) प्रवर्तन है उसीको (वह) आस्तिक्य कहते हैं। ऐसे परभावका अस्तिक्य पुद्गल कर्म विपाकके* रहने तक रहता है।

---

* यहां पुद्गलकर्मके विपाकके रहने तक परभावरूप रागादि क्यों कहा? कि यह जीव स्वद्रव्यका आलम्बन पूर्णतया करे तो परभाव–

तथा इसी इसी प्रकार क्रम वर्तते हुए; पुद्गल विपाकके नास्तिकी [1]काललब्धि आई, तब पुद्गल विपाक नष्ट हुआ। तभी उसी कालमें आस्तिक्यशक्तिका जो परभावरूप प्रवर्तन था वह नष्ट हुआ। क्योंकि ज्यों ज्यों *पुद्गलके मिथ्यात्व विपाकका नाश हुआ, वैसे वह परभाव तो

रागादि नही होते, किन्तु रागादि में तो परद्रव्यका ही आलम्बन होता है। यहाँ उपादान-निजशक्तिमें जब स्वाश्रय हुआ तबसे प्रकाश होते ही अंधकार उत्पन्न नहीं होता उसी दृष्टान्तवत् त्रैकालिक पूर्ण ज्ञानस्वभावका स्वामीत्व और आलम्बन करने पर सर्वथा मिथ्यात्वका और भूमिकानुसार रागादिक उत्पन्न ही नहीं होता निमित्तका ज्ञान करानेमें ऐसा समझना कि—निज शुद्ध उपादान जागृत हुआ है तभी पुद्गल कर्म विपाकका अभाव हुआ और स्वाश्रयके बलसे हेय-उपादानको यथार्थ जाननेरूप निज परिणामकी प्राप्ति होती है।

१ यहाँ काललब्धिकी एक विवक्षा है, कार्तिकेयानुप्रेक्षामें प्रत्येक समय छहों द्रव्यकी काललब्धि कही है। जीवमें जब पात्रताकी पक्वता—भव्य भावका विपाक अर्थात् निजपरिणामोंकी प्राप्तिरूप सम्यक् पुरुषार्थ होता है उसी परिणामको अध्यात्मभाषामें स्वकाल स्वसन्मुख परिणाम अन्तरंग स्वकीय उपादान परिणामाधीनपना कहा है। देखो श्री रायचंद जैन शास्त्रमाला समयसार जयसेनाचार्य सं. टीका पृष्ठ ३१३ " धर्मलब्धिकाल; पृ. ३१८ गा. ७१ तथा " कालादिलब्धि वशेन भव्यत्वशक्तिर्व्यक्तिभवति तदा अयं जीवः सदा शुद्ध पारिणामिकभाव लक्षण निजपरमात्मद्रव्य सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरण पर्यायेण परिणमति। तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिक क्षायोपशमिक क्षायिक भावत्रय भण्यते।

* जीवने मिथ्या आस्तिक्यका स्वसन्मुखता द्वारा जिससमय नाश किया उसीसमय पुद्गल मिथ्यात्व विपाकका नाश हुआ है। देखो, समयसार गाथा २७७ जयसेनाचार्य संस्कृत टीका पृ. ३७० " यस्तु तादृश-

जोकि इस विपाकके रहनेसे होता था जब कि वह विपाक नष्ट हुआ तब इसका (परभावका) तो सहज ही नाश हो गया । तभी उसीकालमें आस्तिक्यशक्तिका परभाव इस प्रकार नष्ट हुआ । उस कालमें आस्तिक्यशक्तिका जो निजजातिभाव गुप्तरूप-शक्तिरूप हो रहा था, वही जातिभाव अतिशयकरि व्यक्त-प्रगट हुआ । उस जातिभावका कैसा रूप है ?

मात्मानमुपादेय श्रद्धते तस्य सप्त प्रकृति उपशमादिकं विद्यते स तु भव्यो भवति' । पुद्गल मिथ्यात्व विपाकका नाश हुआ' कहा वह निमित्तका ज्ञान करानेकी विवक्षा है कारण कि पराश्रयकी श्रद्धासे ही पराश्रयी बननेसे ही परभाव-मिथ्यात्व होता था । नित्यस्वभाव भावके सच्चे आलम्बनसे तो विभाव होता ही नहीं ।

(देखो समयसार गाथा ११२ से ११६)

* जीवके अशुद्धभावका व्यय होकर शुद्धताका उत्पाद हुआ वह जीवकी पर्याय है । जहाँ कर्मके विपाकका अस्तित्व रहना कहा है वह तो जड़ कर्मरूप पुद्गलकी पर्याय है । अतः वह तो उसके उपादानसे होती है । प्रत्येक द्रव्यकी पर्याय अपने अपने उपादान कारणसे होती है मिथ्यात्व रागादि होनेमें परद्रव्यका ही आलंबन रूप निमित्त कारण होनेसे जीवको परद्रव्य पुद्गल कर्मकी पर्यायके साथ सम्बन्ध होनेपर परभावोंकी उत्पत्ति होती है । इस विवक्षासे 'कर्मका विपाक रहे वहाँ तक परभावोंका रहना कहा है और यह कथन तो काल बतलाकर निज शुद्धात्माका आलम्बन करनेका समझानेके लिये कहा है । यदि एक द्रव्यकी पर्याय दूसरे द्रव्यकी पर्यायका सच्चा कारण हो तो द्रव्योंकी एकता हो जाय । किन्तु ऐसा कभी नहीं होता । अतः हरेक द्रव्यकी पर्यायें अपने अपने स्वतंत्र कारणसे होती है, तब बहिरंग उचित संयोगको निमित्त व्यवहार-उपचार कारण कहे जाते हैं । अतः जहाँ कर्मके विपाकके रहने तक जीवमें परभावका कथन है वह तो काल सूचक है भाव सूचक नहीं है ।

जो निजवस्तु जातिकी निश्चय वस्तु गुण–पर्यायोंका प्रत्यक्ष सत्तारूप तथा परद्रव्य–गुण–पर्यायोंका भिन्न प्रत्यक्ष सत्तारूप यथार्थता ऐसा आस्तिक्यशक्तिका जातिभाव है वह नित्य ही है। ऐसी एक सम्यक्त्वगुणकी आस्तिक्य शक्ति निजरूप परिणमति हुई। उसीकालमें उस निकट भव्य जीवको एक ज्ञानगुण है, जिसका लक्षण 'जानना' है। उस 'जानने'के भी दो भाव. एक तो वैभाविकरूप–विकाररूप–उपाधिरूप–परभाव, एक निज जातिरूप–अपने–रूप स्वभावभाव। जाननेका स्वभावभाव अनादिसे शक्तिरूप गुप्त हो रहा था तथा अन्य परभावरूप जानना व्यक्त–प्रगटरूप हो रहा था। सो परभाव धारण करते हुए कैसा जानना होता है?

अवस्तुको वस्तु, अवगुणको गुण, अपर्यायको पर्याय, परको स्व, हेयको उपादेय इत्यादि जो कुछ वस्तुरूप नहीं है, मिथ्यामति (–मिथ्यादृष्टि) उसे ही जाननेको प्रवर्तता है। ऐसा जाननेका परभाव है, वह परभाव पुद्गल आवरणके विपाकके* रहनेसे रहता है इसी–इसीप्रकार अनादिसे प्रवर्तते हुए उस दुष्ट पुद्गल आवरणके कुछ विपाक उदयके नष्ट होनेका काल आया, उसके आनेसे (उस काललब्धिके समय) कुछ विपाक नष्ट हुआ, उससे वह जो दुष्ट–कुत्सित जाननेका परभाव था वह उसी कालमें नष्ट हुआ। तभी कुछ जाननेका निज जाति-स्वभावभाव व्यक्त प्रगटरूप परिणमित हुआ। (सम्यग्ज्ञान हुआ) वह कैसा प्रगट हुआ?

जीवोंकी निज जाति वस्तु गुण–पर्यायोंकी सत्य प्रत्यक्ष स्वजाति जीव जानी (ज्ञात हुई), अथवा ज्ञायक जानी, अथवा

* देखो, फुटनोट पृष्ठ २९ तथा ३०

दर्शन जानी, अथवा उपयोगमई जानी, चेतना जानी अथवा वेदक (अनुभवनरूप) जानी, अथवा बुद्ध जानी अथवा शांतमई जानी, ऐसी तो जीवकी निजजाति नित्य जानी । तथा सर्व परभावोंकी–अन्य पांचद्रव्य–गुण–पर्यायोंकी सत्य प्रत्यक्ष अजीव जाति जानी, अथवा अज्ञायक जानी, अथवा अदर्शनमई जाति जानी अथवा उपयोग रहित जाति जानी है, वा अचेतन जाति जानता है, ऐसी परभावोंकी नित्य जाति जानी (ज्ञात हुई है) ।

तथा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल पांच वस्तुओंकी अजीव जाति ज्ञात हुई, तथा वस्तुभाव भिन्न ज्ञात हुआ, अवस्तुभाव भिन्न ज्ञात हुआ, यथार्थ भिन्न ज्ञात हुआ, आप जीव अपनी निज जाति सत्ता भिन्न जानता है, पर जीव–अजीव सत्ता भिन्न जानता है । मिथ्यात्व भिन्न जानता है, यथार्थ भिन्न जानता है, मिश्रार्थ भिन्न जानता है, उस ज्ञानगुणकी निज जाति भाव शक्ति ऐसी सम्यक् परिणमति हुई–ऐसी प्रगट हुई । तथा उसी कालमें उस निकट भव्य जीवके एक चारित्रगुण भी है, उस चारित्रगुणका लक्षण–आचरण प्रवर्तन भी है । उस आचरणके दो भाव हैं—एक तो विभावरूप–उपाधिरूप–विकाररूप परभाव, दूसरा निज जातिरूप–अपनारूप–स्वभावरूप वह स्वभावभाव । आचरणका स्वभाव तो अनादिसे शक्तिरूप गुप्त हो रहा था तथा अन्य परभावरूप आचरण प्रगट हो प्रवृत्त हुआ । वह आचरण परभावको धारण करता है । (वह) कैसा प्रगट हुआ है ?

क्रोधरूप आचरण; मान, माया, लोभ आचरण, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, पुरुषवेद आदिरूप आचरण । रंजक–(रागरूप) पुद्गल परभावोंमें

चंचलरूप–विश्राम स्थितिरूप प्रवर्तन करना, वही परभावरूप आचरण है, ऐसा आचरण पररूप है। चारित्रमोह कर्मके [1]विपाकके अस्तित्वसे इसका अस्तित्व है। तथा इसीप्रकार वर्तते वर्तते काललब्धि प्राप्त हुई, कुछ चारित्रमोह कर्मका विपाक नष्ट हुआ, तब वह कुत्सित आचरण परभावरूप भी नाश हुआ। अनादिसे आचरणका निज जातिरूप–स्वभावशक्तिरूप–स्वभावभाव शक्तिरूप गुप्त हो रहा था, तभी वह भाव कुछ व्यक्तरूप हो प्रगटरूप परिणमित हुआ। वह कैसा प्रगट हुआ?

जो नित्य एक जातिरूप स्वजीव–वस्तुस्वभाव, वह

---

१. कर्म विपाकके अस्तित्वसे इसके अस्तित्वका अर्थ—जीवके अशुद्ध भावका व्यय होकर शुद्धताका उत्पाद हुआ वह जीवकी पर्याय है। कर्मके विपाकका अस्तित्व रहना कहा है वह तो कर्मरूप पुद्गलकी पर्याय है अतः वह तो उसके उपादानसे है। प्रत्येक द्रव्यकी पर्याय अपने अपने उपादानके कारणसे होती है। मिथ्यात्व रागादि विकार होनेमें पर द्रव्यका आलम्बन निमित्तकारण होनेसे जीवको पर द्रव्य-पुद्गलकर्मकी पर्यायके साथ सम्बन्ध होने पर विकारकी उत्पत्ति होती है। इस विवक्षासे कर्मका विपाक रहे वहाँ तक परभावोंका अस्तित्व रहता है यह कथन है जो काल बतलाकर (जीवको विकारमें आश्रयरूप कारण बतलाना है तो जड़कर्म निमित्त है ऐसा बतलाकर) निज शुद्धात्माका आलम्बन करनेका समझानेके लिये कहा है। यदि एक द्रव्यकी पर्याय दूसरा द्रव्यकी पर्यायका सच्चा कारण हो तो दो द्रव्यकी एकता हो जाय किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। अतः हरेक द्रव्यकी पर्याय अपने अपने स्वतंत्र कारणसे होती है। कर्मके विकारके रहने तक जीवमें विकार यह तो निमित्तका कथन है जो कालसूचक है भावसूचक नहीं है।

निजस्वभाव वस्तुके मध्यमें स्थिररूपसे विश्राम–समाधि–स्थिति आचरण–प्रवर्तता हुआ परिणमित हुआ, केवल निजवस्तु सुखका आस्वादन लेता हुआ परिणमित हुआ, ऐसा आचरण निज जातिरूप स्वभाव परिणमित हुआ, व्यक्त हुआ, उस कालमें भव्य जीवके ये तीनों मुख्य गुण इस प्रकार स्वभावभावरूप परिणमित हुए। अभेदसे वह वस्तु ही स्वभावरूप परिणमित हुई। यह वस्तुका निज जातिस्वभाव तो कुत्सित विपाकभाव वह रंगरहित–दैदीप्यमान है, इस कारण इसको वीतरागभाव कहते हैं। तथा वह परभाव पुद्गल विपाक रंगभावना पडत्थदा (प्रतिध्वनि) से व्याप्त है। वह पुद्गल रंग पड़त्थदा (प्रतिध्वनि) विनाश होनेसे कुछ भी नहीं है। अतः जैसे जैसे जब तक पुद्गल विपाकभाव काल प्राप्त होने पर प्रगट होता है उसी उसीके अनुसार पुद्गल विपाककी जातिके अनुरूप इस चित् परभावके रूपकी जाति होती है। तथा पुद्गल विपाककी भांति जिस जातिका नाश होता है, उस उस जातिका चित् परभावका भी नाश होता ही है। तात्पर्य यह है कि उस पुद्गल विपाकके अस्तित्वसे इस परभावका अस्तित्व है और उस पुद्गल कर्म विपाककी जैसी जैसी कम अधिक अस्ति–नास्ति जाननी, वैसी वैसी परभावकी कर्म अधिक अस्ति–नास्ति जाननी, अतः परभावका अस्तित्व पुद्गलकर्म विपाकके आधीन है। तथा इस कारणसे केवल पुद्गलकर्म विपाक रंगकी जाति समान इस परभावकी जाति है इसलिये परभाव सरागमय हैं। तथा वह निज जाति जीव वस्तु स्वभावभाव निज वस्तु सत्ताके आधीन है। वह स्वयं ही वस्तुभाव है। वही पुद्गलकर्म विपाकके नाशसे स्वभावभावका प्रवर्त्तना–प्रगट होना है। अतः स्वभावभाव पुद्गलकर्म विपाक रंगसे सहज ही रहित है जिस कारणसे स्वभावको एक वीतराग

नाम भी प्राप्त हुआ, और निकट भव्यकी प्रगट परिणमित स्वभावभाव है ।

भावार्थः—जिसप्रकार अनादिसे जीवकी परिणति अशुद्ध हो रही है उसीप्रकार कहते हैं । अनादिसे पुद्गल तो जीवकी चित् विकार परिणति होनेको निमित्त हुआ । फिर वही चित् विकार परिणति परिणमित होती हुई उस पुद्गलको कर्मत्व परिणाम होनेको निमित्त होती है । इसप्रकार अनादिसे परस्पर निमित्त-नैमित्तिक हो रहे हैं । सो यहाँ जीवकी परिणतिका व्याख्यान करते हैंः—

जब यह पुद्गल सहज ही अपनी द्रव्यशक्तिसे कर्मत्व उदय परिणतिरूप परिणमित हुआ, तभी उस पुद्गल कर्मत्व उदय परिणतिरूप परिणमनका निमित्त पा करके यह जीव स्वयं चित् विकाररूप हो करके परिणमता है । जैसे प्रातःकाल सूर्यका उदय होने पर लोक स्वयं ही स्नान वाणिज्य आदि कार्य करते हैं, वैसे ही पुद्गलकर्मकी उदय परिणति प्राप्त होने पर जीव स्वयं ही विकाररूप परिणमित होता है । कोई जानेगा कि पुद्गल जीवको विकाररूप परिणमाता है, सो इस प्रकार तो कभी भी नहीं होता (नहीं बनता) । अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यकी परिणतिका कर्त्ता नहीं होता । तथा कोई इसप्रकार जानेगा कि चित् विकाररूप तो जीव परिणमता है परंतु यह पुद्गल उसके परिणमनके लिये स्वयं निमित्तका कर्त्ता होता है ।

परभावका कर्तृत्व माननेमें दोष

जब यह जीव विकाररूप परिणमित हो, उसके लिये यह पुद्गल स्वयं निमित्तका कर्त्ता होकर प्रवर्तन करे, सो इस प्रकार तो कभी भी नहीं होता । यदि यह पुद्गल उस चित् विकारके

होनेके लिये जानजानकर स्वयं कर्मनिमित्तरूप होता है तो पुद्गल ज्ञानवन्त हुआ । ऐसा होते अनर्थ उत्पन्न हुआ । जो अचेतन था वह चेतन हुआ, एक तो यह दूषण है । दूसरे पुद्गलकर्मकी कर्मत्व विभावता पुद्गलके आधीन होगी, पुद्गल स्वाधीन अपने आप कर्म विभावोंका कर्त्ता हो जायगा, निमित्त प्राप्त होने पर कर्मका कर्त्ता नहीं होगा, तब विभाव कर्मत्व पुद्गलका स्वभाव होगा, यह दूसरा दूषण है ।

तथा तीसरा दूषण यह होगा कि जो पुद्गल जीवको विकाररूप होनेके लिये कर्मपने द्वारा निमित्तरूप हुआ करे तो यद्यपि कोई द्रव्य किसी द्रव्यका शत्रु नहीं है परन्तु यहाँ तो पुद्गल जीवका शत्रु हुआ । यह तीसरा दूषण है ।

और जो कोई इस प्रकार कहे कि जीव तो विकाररूप परिणमित नहीं होता, (पुद्गल ही अनेक प्रकार स्वयं ही कर्मस्वरूप हुआ परिणमता है.) सो इस प्रकार तो कभी भी नहीं होगा, क्यों ?

यदि पुद्गल विकाररूप परिणमता है तो परिणमो परन्तु जीवको संसार मुक्ति होना तो न ठहरा । ज्ञानी अज्ञानी हुआ, वह कोई अन्य दशा हुई । वह अन्य दशा तो नहीं दिखाई देती है तथा जीवके संसार, मुक्त परिणाम तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, अतः जीवको तो विकार होना ठहरा ।

अब यदि कोई इसप्रकार कहता है कि जीव चित् विकाररूप स्वयं तो नहीं परिणमित होता परंतु पुद्गलसे व्याप्य-व्यापकरूप होकर परिणमित होता है तो इसप्रकार तो नहीं है क्योंकि कोई द्रव्य किसी द्रव्यसे व्याप्य-व्यापक नहीं होता । जो होवे, तो चेतनद्रव्यका नाश हो जावे, यह कहनेका भाव है ।

तथा, यदि कोई इस प्रकार कहता है कि पुद्गल सहकारी निमित्त कुछ नहीं, जीव स्वयंको स्वयं ही निमित्त होकर स्वयं ही चित् विकाररूप परिणमित होता है, सो इस प्रकार तो नहीं है, क्यों ?

यदि पुद्गल कर्मत्व सहकारी निमित्त विना ही जीव चित्विकाररूप परिणमता है तो यह चित्विकार जीवका निज-स्वभावभाव हो जावे, स्वाधीन शक्ति हो जावे, निर्विकार निज-स्वभाव चेतनाका नाश हो जावे, यह अनर्थ होता है ।

तथा यदि कोई इस प्रकार कहे कि पुद्गलके कर्मत्व विकार होनेके लिये जीव चित्विकाररूप परिणमता है, सो इस प्रकार तो नहीं है, क्यों ? कोई द्रव्य किसी द्रव्यका शत्रु नहीं है । इस प्रकार निषेध है ।

तथा यदि कोई इस प्रकार कहे—जीव पुद्गल दोनों मिलकर एक अशुद्ध विकार परिणति उत्पन्न हुई है सो इसप्रकार भी नहीं है । क्योंकि दो द्रव्य मिलकर एक परिणतिरूप नहीं होते, ऐसा माननेसे दो द्रव्योंमेंसे कोई द्रव्य निःपरिणामी (परिणाम रहितका) हो परन्तु यहाँ तो सर्व द्रव्य निज परिणामी हैं, चेतनके चेतन परिणाम, अचेतनके अचेतन परिणाम । इसप्रकार दोनों मिलकर एक अशुद्ध परिणति माननेका निषेध हुआ ।

अब जिसप्रकार इन दोनों विकारकी उत्पत्तिका रूप है उसीप्रकार कहते हैं—पुद्गल कर्मत्व विकार होनेकी ऐसी कथा है:—

इस त्रिलोकमें कार्माण जातिकी वर्गणा (स्कंध) भरी हैं । जब जिस जीवके जैसी-जैसी जातिका मन्द, तीव्र चित्विकार

रागभाव होता है उसी कालमें उसी जीवका राग चिकनाईका निमित्त पाकर यथायोग्य कर्मवर्गणा उसी जीवके समीप आकाश प्रदेशोंमें पुद्गलवर्गणा उस जीवके प्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाहरूप चिपकती है अथवा बँधती हैं, इसप्रकार बन्धकर वही कार्मण-वर्गणा निजनिज कर्मत्व कार्यमें व्यक्त होकर परिणमित होती है, उदयरूप होती है—ऐसा चित्विकार राग कर्मवर्गणाको कर्मत्व व्यक्तरूप अनेक प्रकार परिणमनको निमित्तमात्र है जैसे दृष्टांत—

जैसे किसी पुरुषके शरीरमें तेल लगा है, उसी तेलका कारण पाकर अन्य धूलि मल उस तेलसे बन्धकर धूलि व्यक्तपने मैलरूप परिणमती है तो भी वह पुरुष उस मैलसे मैला होता है यहाँ ऐसा इतना ही द्रव्यकर्मत्व होनेमें राग निमित्तका भाव जानना ।

अब विकारकी उत्पत्ति कहते हैं—

उसी जीवसे एक क्षेत्रावगाह होकर जो कार्मणवर्गणा चिपकी थी । वे सहज आप ही काललब्धि प्राप्त होने पर कर्मत्व व्यक्त परिणामरूप होकर परिणमती हैं । तभी उसी कालमें उन वर्गणाओंका व्यक्त कर्मत्व उदय निमित्तमात्र प्राप्त होने पर यह जीव चित्विकारभावरूप प्रगट हो परिणमता है । इति सामान्य निरूपण ।

तथा यहाँ एक संक्षेपसा दृष्टांत जानना—जैसे एक बिल्ली और लोटन नाम जड़ी है । उस जड़ीकी जैसी वासना है वैसी वासनारूप जड़ी अकारण सहज ही अपने आप प्रगट है, ऐसी जड़ीकी वासनाका निमित्तमात्र इतना ही प्राप्त होने पर सयानी (चतुर) अपनी गतियोंमें प्रवीण बिल्ली उस जड़ीकी वासनामें अपनी सर्व सूरत रंजती धरी (रंजनारूप

परिणामको धारण करती हुई) अपनी चेष्टाकी सूरत (रूप) विसर गई (भूल गई) । तब उस बिल्कीके क्या विकार उत्पन्न होता है ? वह बिल्ली उसी जड़ीको तो जाना करती है और उसी जड़ीको देखा करती है फिर भी उसी जड़ीसे मन विरक्त नहीं होता है, उसमें रंजायमान हुआ करती है । इस प्रकार होती हुई बिल्ली उस जड़ीके आगे लोटा करती है । जिसप्रकार इस जड़ीकी वासनाका निमित्त मात्र इतना ही प्राप्त होने पर बिल्ली लोटनेकी क्रिया करती है, उसीप्रकार कर्मवर्गणाका कर्मत्व व्यक्त परिणतिका निमित्तमात्र इतना ही प्राप्त होने पर यह जीव स्वयं ही चित्विकारकी क्रियाको करता है । इति सामान्य दृष्टांत द्राष्टांत ।

चित्विकार वर्णन

जो एक क्षेत्रावगाही वर्गणा है, वही वर्गणा जिस कालमें कर्मत्वरूप व्यक्त होकर आप ही आकाररूप होकर धारा प्रवाहरूप परिणतिसे परिणमित होती हैं; तभी उसी कालमें उस पुद्गल कर्मत्व व्यक्त प्रवाह–परिणाम–परिणतिका निमित्तमात्र इतना ही प्राप्त होने पर यह जीव वस्त्वंतर (वस्तु + अंतर) होता है, सो क्या ?

इस जीवमें स्वरूपाचरणरूप स्वयंमें ही विश्राम लेनेके भावरूप निज परिणतिकी धारा उत्पन्न नहीं होती, और कर्ममल व्यक्त परिणाम–प्रवाह परिणतिमें, पराचरणरूप–परहीमें विश्राम लेनेके भावरूप पर परिणतिकी प्रवाह–धारा उत्पन्न होती है । उसी परकर्म—परकर्मत्व व्यक्तधारामें रंजक–रागरूप–जीव पर विश्राम धारा प्रवाहसे प्रवृत्त हुआ, स्वयंमें विश्राम लेना छूट गया, पुद्गलमें अस्पर्श विश्राम भाव किया, उसका नाम

वस्त्वंतर है। ऐसा जब जीव स्वयं ही वस्त्वंतर हुआ तब यह जीव ऐसे विकाररूप स्वयं ही धारारूप परिणमता है। क्या विकार उत्पन्न हुआ ?

इस जीवका ज्ञानगुण तो अज्ञानरूप प्रवाहरूप परिणमित हुआ। वह अज्ञान विकार कैसा है ? क्रोध, मान, माया, लोभ, इन्द्रिय, मन, वचन, देह, गति, कर्म, नोकर्म, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव इसप्रकार जितनी भी परवस्तु हैं, उतनेको आपरूप जानता है, "ये हैं सो मैं ही हूं, मैं इनका कर्ता हूं, ये सर्व मेरे कार्य हैं, मैं हूं सो ये हैं, ये हैं सो मैं ही हूं," इस प्रकार परवस्तुको जो आप जाने, आपको पर जानता है। तब लोकालोक जाननेकी सर्वशक्ति अज्ञानभावरूप परिणमित हुई है सो जीवके ज्ञानगुणका अज्ञान विकार उत्पन्न हुआ।

तथा इसीप्रकार जीवका दर्शनगुण था वह भी जितने परवस्तुके भेद हैं उतने भेदोंको आपरूप ही देखता है। 'यह है सो मैं ही हूं' इस प्रकार आपको पर देखता है। लोकालोक देखनेकी जितनी शक्ति थी; उतनी सर्व शक्ति अदर्शनरूप हो गई, इसप्रकार जीवका दर्शनगुण विकाररूप परिणमित हुआ।

तथा जीवका सम्यक्त्वगुण था वह जीवोंके भेदोंको अजीवरूप श्रद्धा करता है, अजीवके भेदोंको जीवरूप श्रद्धा करता है। चेतनको अचेतन, विभावको स्वभाव, द्रव्यको अद्रव्य, गुणको अवगुण, ज्ञानको ज्ञेय, ज्ञेयको ज्ञान, स्वको पर, परको स्व, इसीप्रकार अन्य सर्व विपरीत ही आस्तिक्यश्रद्धा करता है। इसप्रकार जीवका सम्यक्त्वगुण मिथ्यात्वरूप—विकाररूप परिणमित हुआ।

तथा जीवका स्वआचरण गुण था वह जितनी भी परवस्तु है उन परको स्वआचरण किया करता है, परमें ही तिष्ठा करता है, परहीको ग्रहण करता है। अपनी चारित्रगुणकी सर्वशक्ति परमें ही लग रही है। इस प्रकार जीवका स्वचारित्रगुण विकाररूप हो परिणमता है।

तथा इस जीवका सर्वस्वरूप परिणमित होनेका बलरूप सर्व वीर्य गुण था, वह भी सर्व वीर्यशक्ति अत्यन्त निर्बलरूप हो परिणमित हुआ। स्वरूप परिणमनका बल प्रगट नहीं हुआ, पररूप निर्बल हो परिणमित हुआ। इसप्रकार जीवका वीर्यगुण विकाररूप हुआ।

तथा इस जीवका आत्मस्वरूपरूप रस जो परमानन्द भोगगुण था, वह पर पुद्गलका कर्मत्व व्यक्त साता-असाता, पुण्य-पापरूप-उदय परपरिणामोंके विविध चित्विकार परिणामोंका रस भोगता रहता है रस लिया करता है। उस परमानन्द-गुणकी सर्वशक्ति परपरिणामोंका स्वाद सो परस्वाद परम दुःखरूप है। इसप्रकार जीवका परमानन्दगुण दुःख विकाररूप परिणमित हुआ। इसीप्रकार इस जीवके अन्य गुण जैसे-जैसे विपरीत विकाररूप हुए हैं सो अन्य ग्रन्थोंसे जान लेना।

इस जीवके सर्वगुणोंमें विकारको चित्विकार नाम संक्षेपसे कहते हैं। इसप्रकार यह जीव एक क्षेत्रावगाही कर्मवर्गणाओंसे व्यक्त जो कर्म उदय परिणतिका निमित्तमात्र प्राप्त होनेपर आप ही वस्त्वंतर हुआ। वस्त्वंतर होनेसे आप ही चित्विकाररूप, धाराप्रवाहरूप होकर उस बिल्लीकी भाँति इस त्रिलोकमें यह जीव नाचता फिरता है।

प्रश्नः—ऐसे चित्विकाररूप तो जीव आप ही परिणमित होता है, परन्तु इस एक क्षेत्रावगाही कर्मत्व उदयका निमित्तमात्र प्राप्त होनेपर विकाररूप हो, सो इतने निमित्तमात्रसे क्या है ?

उत्तरः—इतने निमित्तसे यह है कि जीवका इतना विकारभाव अनित्य स्थापित किया, विकारकी अनित्यता जड़ (निश्चत) हुई, विकार अवस्तु भाव ठहरा; विकार विकार ही ठहरा, स्वभाव न ठहरा। क्योंकि जिस काल उस कर्मत्व[1] व्यक्त उदय परिणतिकी स्थिरता है—जैसा उसका अस्तित्व है—तब यह जीव भी चित्विकारका कर्ता होता है। तथा जिस काल वही एक क्षेत्रावगाही कर्मवर्गणा कर्मत्वरूप नहीं हुई, सहज ही उसीकाल इस जीवने भी चित्विकाररूप भाव नहीं किया। इस चित्विकारको उस कर्मत्वता निमित्त इतना कारण है। इस चित्विकारका अस्तित्व केवल उस कर्मत्व व्यक्त उदयके अस्तित्वसे है। वह जाता है तो यह चित्विकार भी जाता है इसलिये इस विकारको अनित्यपना ठहरा। तथा यह स्वाधीन वस्तुस्वभाव न ठहरा। तथा प्रत्यक्ष विकार, विकार ही ठहरा। क्योंकि स्वभावकी नास्ति तो तब हो, जब इस जीववस्तुका नाश हो जाय, परन्तु वस्तुका कभी भी नाश नहीं है, अतः वस्तुत्वस्वभावभाव आप ही नित्य ठहरा। इस स्वभावभावका अस्तित्व निज वस्तुत्वके अस्तित्वसे है इस कारण यह स्वभावभाव निजजाति स्वभाव ही ठहरा, सो केवल स्वयं वस्तु ही ठहरी।

तथा इस विकारका अस्तित्व परके अस्तित्वसे है, (परके

१. कर्मत्व व्यक्त उदयका अभिप्राय पुद्गलस्कंधके उदयके साथ जीवकी परिणतिका जुड़ान अर्थात् सम्बन्ध है।

अवलम्बनसे है ।) इस कारण यह अनित्य है इसका अस्तित्व पराधीन ठहरा । तथा जब यह विकारभाव मिट जाता है, तब वह वस्तु तो जैसीकी तैसी ही रह जाती है, इस कारणसे प्रत्यक्ष जाना जाता है कि यह वस्तुका वस्तुस्वभाव नहीं है । यह भाव इस वस्तुमें ऊपरी हैं, अन्य जैसा ही है । अतः जो अन्य जैसा ही भाव आता है, वह विकारभाव स्वयंको प्रत्यक्ष विकाररूप ही दिखलाता है, "मैं इस वस्तुका वस्तुस्वभाव नहीं, पर मैं इस वस्तुमें उपाधि हूं," इस प्रकार आता हुआ वह विकारभाव प्रत्यक्ष दिखलाता है ।

तथा जो कोई इस प्रकार प्रश्न करे, जब वस्तु विकाररूप प्रगट होती है, उस कालमें स्वभावभावका क्या होता है? नाश हो जाता है कि रहता है? उसका उत्तरस्वभावभाव गुप्तरूप रहता है ।

भावार्थ—यह स्वभावभाव तो प्रगट परिणमनरूप है यह तो नष्ट नहीं हुआ है, परन्तु जो वस्तु है वह वस्तुस्वभावभाव तो आप स्वयं ही है । उस विकारके जाते ही व्यक्त परिणाम भावरूप होना सरल है । जैसे वह बिल्ली है तो उसका स्वभावभाव भी नहीं गया है (नष्ट नहीं हुआ है ।) क्योंकि जिस काल जड़ीका निमित्त जाता है । निमित्तके जाते ही उस बिल्लीका लोटनेरूप विकार जाता है, तभी उस बिल्लीके निज जातिस्वभाव प्रगट होता है । तथा जो लोटते हुए बिल्लीपना मिट गया होता तो वह बिल्लीका स्वभाव कहाँसे प्रगट होता? न होता । इस कारण लोटते हुए बिल्लीपना नहीं जाता है, बिल्लीपना तो रहता है । जैसे बिल्लीपना रहता है, वैसे स्वभावभाव स्वयं ही रहता है । तथा जो रहता है तो व्यक्तरूप होना सरल है । इति तात्पर्य ।

इसप्रकार अनादिसे इस जीवने चित्विकाररूप होकर भ्रमण क्रिया, अनेक-अनेक विकारभावरूप नृत्य किया। नृत्य करते करते जब अनन्तकाल व्यतीत हुआ, तब किसी भव्य जीवको वस्तुस्वभावभाव प्रगट परिणामभाव होनेकी काल-लब्धि प्राप्त हुई। वह संसारी जीव कैसा है? संज्ञी पंचेन्द्रिय है। ऐसे जीवके काललब्धि आने पर स्वभाव परिणाम जैसे प्रगट होता है, वह रीति कहते हैं—

पौद्गलिक दर्शनमोहकी तीन प्रकृति–मिथ्यात्व, मिश्र-मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति–मिथ्यात्व इन तीन प्रकृतियोंका मूलसे ही विनाश (क्षय) हुआ, अथवा उपशम हुआ, अथवा क्षयोपशम हुआ, अथवा दो प्रकृतियोंका तो क्षयोपशम हुआ और एक सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्वका उदय है, इस प्रकार तो पौद्गलिक दर्शनमोहकी अवस्था हो गई। तथा उसीकालमें पौद्गलिक चारित्रमोहकी अनन्तानुबन्धी चौकड़ीका मूलसे नाश हुआ अथवा उपशम अथवा क्षयोपशम हुआ, इस प्रकार अनन्तानुबन्धीकी अवस्था हो गई तथा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अंतराय, वेदनीय–इन चारों पौद्गलिक कर्मोंके संक्षेपसे कितने ही कर्मअंश क्षयोपशम हुए, सो वह क्षयोपशम कैसा जानना?

कर्मअंशोंके उदयरूप होनेका अभाव (–नाश) होना क्षय है। तथा उन कर्मअंशोंके सत्ताभावका सत्ता उपशम है। इन अंशोंकी दशा ऐसे क्षयोपशमरूप हुई, इस प्रकार इन पुद्गलकर्मोंसे नष्ट होते ही उसीकालमें चित्विकार भी सहज ही नष्ट हो जाता है।

कोई यहाँ प्रश्न पूछता है कि चित्विकारके मिटते ही पुद्गलकर्मका नाश क्यों नहीं कहते हैं? उसका उत्तर–इस

चित्विकारकी स्थिति पुद्गल कर्मकी स्थितिके आधीन है, पुद्गलकर्मकी स्थिति चित्विकारकी स्थितिके आधीन नहीं। इस पुद्गल कर्मकी स्थिति कालद्रव्यके आधीन है, जितने काल तक जिन जिन पुद्गलद्रव्योंको जिस जीवके संग कर्मत्वरूप परिणमना है, उतने ही काल तक कर्मत्व स्थिति रहती है। उस कर्मत्व परिणमनके कालकी जब मर्यादा पूर्ण होती है, तभी पुद्गल-कर्मत्व परिणमनकी स्थिति समाप्त हो जाती है। अतः कालकी मर्यादा पूर्ण होने पर पुद्गल कर्मत्व स्थिति समाप्त होती है। उस पुद्गल कर्मत्व स्थितिके समाप्त होते ही चित्विकार स्थिति समाप्त हो जाती है। अतः पुद्गल कर्मत्व परिणमनकी स्थिति समाप्त हुई, इस प्रकार चित्विकार नष्ट हो गया। जीवके जब वह चित्विकार नष्ट हो जाता है, तब जीवका निजजाति वस्तुस्वभाव जैसा था, वैसा ही परिणामरूप व्यक्त हो प्रवाहको प्राप्त होता है। उसे कहते हैं—

अनादिसे जीवका जो स्वभाव आचरणभाव राग, मोहरूप होकर सर्व पर पुद्गलोंमें आत्मा मानकर तिष्ठा था, वही स्वरूपाचरणरूप हुआ। कितना ही (भाव) निज वस्तुमें ही मग्न हुआ, स्थिरीभूत उत्पन्न हुआ। इति सामान्य कथन।

विशेष रूपसे दर्शनमोह पुद्गलकी स्थिति जब ही नष्ट हुई, तभी इस जीवका जो स्वसम्यक्त्वगुण मिथ्यात्वरूप परिणमित हुआ था, वही सम्यक्त्वगुण सम्पूर्ण स्वभावरूप हो परिणमित हुआ, प्रगट हुआ। चेतनवस्तु द्रव्य, गुण, पर्याय जीव वस्तु जातिकी भिन्न आस्तिक्यता-टंकोत्कीर्ण प्रतीति; और अचेतन वस्तु द्रव्य, गुण, पर्याय, अजीव वस्तु जातिकी आस्तिक्यता-टंकोत्कीर्ण भिन्न प्रतीति, सो ऐसा सर्वांग सम्यक्त्वगुण निजजाति स्वरूप हो परिणमित हुआ-प्रगट हुआ।

उसी कालमें वह ज्ञानगुण अनन्त शक्तियोंसे विकाररूप अनादिसे हो रहा था, उस ज्ञानगुणकी उन अनन्तशक्तियोंमेंसे कितनी ही शक्तियाँ चेतन निजजाति वस्तुस्वरूप स्वज्ञेय जाननेको प्रत्यक्ष निजरूप होकर सर्व असंख्यात जीव प्रदेशोंमें प्रगट हुई। उसका सामान्यसे नाम 'भावमति श्रुत' कहते हैं, अथवा निश्चय श्रुतज्ञानपर्याय कहते हैं, अथवा ज्ञानी कहते हैं, श्रुतकेवली कहते हैं, या एकदेश प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं, या स्वसंवेदनज्ञान कहते हैं अथवा जघन्यज्ञान कहते हैं। इनके अतिरिक्त सर्व ज्ञान शक्तियाँ अज्ञान विकाररूप प्राप्त होती हैं। इन सर्व विकारशक्तियोंका सामान्य नाम कर्मधारा कहते हैं। इस प्रकार उस सम्यक्त्वगुण स्वरूप परिणमनके कालमें ज्ञानगुणकी अनंत शक्तियोंमेंसे कितनी ही स्वरूपरूपको प्राप्त हुई।

तथा उसीकालमें जीवके दर्शनगुणकी अनादिसे अदर्शन विकाररूप अनंतशक्तियाँ हो रही थीं, वे भी कितनी ही शक्तियाँ दर्शन निज जाति स्वस्वरूप होकर असंख्यात जीव प्रदेशोंमें प्रत्यक्ष प्रगट हुई। और जिस प्रकार ज्ञानकी शक्ति प्रत्यक्ष होनेकी रचना कही थी, उसीप्रकार दर्शनगुणकी कितनी ही (शक्तियाँ) प्रत्यक्ष होनेकी रचना हुई। तथा जिस प्रकार ज्ञानकी शक्ति कर्मधारारूप कही उसीप्रकार दर्शनगुणकी कितनी ही शक्तियाँ प्रत्यक्ष होनेकी रचना होकर अन्य शक्तियाँ कर्मधारारूप प्रवाहित होती हैं।

उसीकालमें जीवके स्वचारित्रगुणकी अनंत शक्तियाँ अनादिसे पराचरणरूप द्वारा रागरूप हो रही थी, उन अनंत आचरण शक्तियोंमेंसे कितनी ही आचरण शक्तियाँ वीतराग निजजाति होकर निज वस्तुस्वस्वरूपमें, स्थिररूप–विश्रामरूप–प्रगट हुई। निज वस्तुस्वरूप आचरण किया, स्थिरता प्राप्त की,

तथा श्रुतकेवली जीवके अबुद्धिरूप जो चारित्रगुणकी कितनी ही शक्तियाँ हो रही हैं, वे चारित्रकी शक्तियां रागरूप हैं । जहाँ राग वहाँ बंधन है । अतः श्रुतकेवलीके बुद्धिरूप–चारित्रगुण शक्तियोंसे आस्रव–बंध नहीं है । अबुद्धिरूप चारित्र राग शक्तियोंसे सूक्ष्म आस्रव–बंध होता है । इस प्रकार जघन्य ज्ञानीको स्वचारित्रगुणकी कितनी ही शक्तियाँ सर्व जीव प्रदेश निजवस्तुमें वीतराग होकर स्थिरीभूत विश्रामको प्राप्त हुई तथा चारित्रकी रागरूप (शक्तियाँ) अबुद्धि विकाररूप प्रवर्तती हैं ।

तथा उसीकालमें इस जीवके एक स्वपरमानन्दभोग गुणकी अनंतशक्ति चितविकाररूप, पुण्य, पाप, दुःख भोगरूप अनादिसे प्रवर्तती थीं, उनमेंसे कितनी ही शक्तियाँ स्वपरमानन्दरूप हो सुख भोगरूप प्रवृत्त हुई हैं । जितनी चारित्रगुणकी शक्तियाँ स्वआचरण स्थिररूप प्रवृत्त हुई, उतनी शक्तियाँ परमानन्द भोगगुणके स्वसुखभोगरूप प्रगट हुई और अन्य शक्तियां पुण्य–पाप भोगरूप प्रवर्तती हैं ।

तथा उसीकालमें इस जीवके वीर्य (बल) गुणकी सर्व शक्ति अनादिसे स्वरूप परिणमनके लिये निर्बल हो रही थीं । उनमेंसे कितनी ही शक्तियाँ निजस्वरूप प्रगट होनेको बलवान होकर प्रवृत्त हुई । सम्यक्त्वगुण और ज्ञानगुणकी जितनी शक्ति, दर्शनगुणकी जितनी शक्ति, चारित्रगुणकी जितनी शक्ति, परमानन्दगुणकी जितनी शक्ति, जितनी परमार्थस्वरूप होकर प्रवृत्त हुई, उतनी ही वीर्यगुणकी शक्ति सर्व जीव प्रदेशोंमें वीर्यबलरूपधारी प्रवृत्त हुई । इस प्रकार किसी भव्य जीवको काललब्धि प्राप्त होने पर सम्यक्त्वगुण, ज्ञान दर्शन स्वचारित्र, परमानन्दभोगस्वभाव, वीर्यगुणोंकी कितनी ही शक्तियाँ

स्वस्वभावरूप प्रगट होकर प्रवृत्त हुई । उसी जीवके असंख्यात प्रदेशोंमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, परमानन्द आदि गुणोंकी शक्ति बुद्धिरूप शुद्ध, अबुद्धिरूप चित्विकार होकर अशुद्ध प्रवर्तती हैं । इस प्रकार स्वरूप (ज्ञानधारा) विकाररूप (कर्मधारा)-दो धाराएँ, बारहवें गुणस्थान तक रहती हैं । इस कारणसे इस जीवको इतने काल तक मिश्रधर्म परिणति कहते हैं । क्यों ?

स्वभाव तो प्रगट हुआ है परंतु गुण विकारी भी प्रवर्तता है, जिससे वह जीव द्रव्य उतने काल तक मिश्रधर्मी कहलाता है । तथा जिस कालमें मन, इन्द्रिय बुद्धि (ज्ञान) शक्ति सर्वथा स्वभावरूप होगी तब ही जानो की गुणोंकी अनंत शक्ति स्वभावरूप होगी । वहाँ सर्वथा स्वभावरूप गुण कहेंगे । इति मिश्रधर्म अंतरात्मा परिणति कथन समाप्तं ।

॥ इति मिश्रधर्मवाद ॥ इति एकादशवाद ॥

(१५) जीवाधिकार वर्णन

मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति, पर परिणति फल भोगादि चित्विकारभाव तथा इस चित्विकार होनेसे जीवके संसार–मुक्त भाव उत्पन्न होते हैं । वे कौन ?

जीवके पुण्य–पाप, शुभ–अशुभभाव, राग–चिकने परिणामरूप जीवका बन्धभाव, राग–द्वेष–मोह जीवके आस्रवभाव, परभावका आचरण नहीं करनेरूप जीवका संवरभाव, चित्विकारके अंश नष्ट होनेरूप जीवका निर्जराभाव, सर्व चित्विकारका नष्ट होना जीवका मोक्षभाव, इतने चित्विकार संसार मुक्तिभाव भेषोंमें एक व्याप्य–व्यापक तो जीव हुआ है; अन्य कोई द्रव्य नहीं हुआ है । इनरूप जीव एक अपने आप है । परन्तु यह भाव कोई जीवका निज जातिस्वभाव नहीं है । इतने भावोंमें जो चेतना व्याप्त हो रही है, उसी एक चेतनाको तू जीवका निजजातिस्वभाव जानना । यह चेतना ही केवल जीव है । वह अनादि अनन्त एकरस है । इस कारण यह चेतना स्वयं साक्षात् जीव जानना । तथा इन रागादि विकारभावोंको इस जीवके स्वांगभेष निःसंदेह जानने, अतः जीव शुद्ध चेतनारूप स्वयं है ।

इन रागादिभावोंमें अपने आप जीव चेतनरूप प्रवर्तता है । चेतना है वह जीव है, जो जीव है वह चेतना है । अतः जीव चेतनरूप अपने आप होकर तिष्ठा है । जीवका निश्चयसे चेतना इतना भाव है । अन्य सर्वभाव जीवपदका कोई नहीं है । इति जीवाधिकार ॥

(१६) अजीवाधिकार वर्णन

पाँच वर्ण, दो गन्ध, पंच रस, आठ स्पर्श, पाँच शरीर, छह संहनन, छह संस्थान, पांच मिथ्यात्व, बारह अविरति, पचीस कषाय, पंद्रह योग, मोह, राग, द्वेष, वर्गणा–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक इत्यादि सर्व भेद पुद्गल परिणाममय प्रगट जानने। तथा यह पुद्गल जीवके रागादिकका निमित्त प्राप्त होने पर जीवके साथ एकक्षेत्रावगाही होता है—एकीभूत होता है। इस प्रकार जीवसे पुद्गल एकीभूत हुए हैं। उस जीवके समीप तिष्ठे हुए पुद्गल जिस–जिस लक्षणरूप हो परिणमते हैं, वे सर्व लक्षण पुद्गलपरिणाममय जानने। उन लक्षणोंको कहते हैं—

तीव्र, मन्द, मध्यम कर्मप्रकृतियोंके सुख–दुःखरसरूप लक्षण होते हैं, मन, वचन, कायके हलन–चलनरूप लक्षण होते हैं, कर्मोंकी प्रकृति परिणामरूप लक्षण होते हैं, कर्मत्वके निज फल होनेको समर्थ उदयरूप लक्षण होते हैं, चारों गतिरूप लक्षण होते हैं, पांच इन्द्रियरूप लक्षण होते हैं, छह कायरूप लक्षण होते हैं, पन्द्रह योगरूप लक्षण होते हैं, कषाय परिणामरूप लक्षण होते हैं, जीवके ज्ञानगुणकी पर्यायमें (सुमति–कुमति आदि) आठ नाम–संज्ञामात्र–वचनवर्गणा उत्पन्न करनेके नाम रचनारूप आठ अवस्था लक्षण होते हैं, जीवके चारित्रगुणकी पर्यायमें सात नाम–संज्ञामात्र वचनवर्गणारूप रचना कार्य उत्पन्न करनेरूप लक्षण होते हैं; जीवके सम्यक्त्वगुणकी पर्यायमें छह नाम–संज्ञावचन वर्गणारूप रचनामात्र कार्य उत्पन्न करनेरूप लक्षण होते हैं; जीवके छह कर्मरूप रंग नाम भेदकर लेश्यारूप

लक्षण होते हैं, जीव संज्ञीभावके दो नाम मात्र भेद रचना उत्पन्न करनेरूप लक्षण होते हैं, जीवके भव्य अभव्य नाम मात्र रचना उत्पन्न करनेरूप लक्षण होते हैं, आहारक, अनाहारकरूप नाम मात्र रचना उत्पन्न करनेरूप लक्षण होते हैं प्रकृतियोंका निजकाल मर्यादा तक रसरूप रहता है सो स्थितिबन्ध लक्षण होता है, कषायोंका उत्कृष्ट विपाकरूप लक्षण होता है, कषायोंका मन्द विपाकरूप लक्षण होता है; चारित्रमोह विपाकका यथाक्रमसे नष्ट होना वह संयमरूप लक्षण होता है, पर्याप्त, अपर्याप्त, सूक्ष्म, बादर, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, चौरासी लाख भेदादिरूप लक्षण होते हैं। प्रकृतियोंके उदय और उदय अभावरूप अवस्थासे भिन्नभिन्न गुणस्थान होते हैं, वह मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति, देशविरति, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति करण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणकषाय, सयोग अयोग इतने लक्षण होते हैं। ये सर्व लक्षण कहे, वे सर्व पुद्गल परिणाममय जानने।

यह पुद्गल जब जीव प्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाही पुद्गल होता है, तब जीवके समीप तिष्ठे पुद्गल उपर्युक्त लक्षणोंरूप परिणमते हैं, इस कारणसे इन लक्षणरूप पुद्गल परिणामोंको जीव समीपी (निकटवर्ती) कहते हैं। अतः ये सर्व पुद्गल परिणाम अचेतन–पुद्गलमय जानने। इनमें चेतनका भ्रम न करना। सदाकाल अन्य द्रव्य ही जानना। इनको जीवरूप प्रतीति करना ही मिथ्यात्व है। सम्यक् ज्ञाता इनको अचेतन परद्रव्य और भिन्न ही जानता है, स्वयंको चेतनारूप चेतनद्रव्य जानता है भिन्न आचरण करता है (अनुभव करता है)।

तथा जब जीवसे एकक्षेत्रावगाही पुद्गल है वह उदयरूप

परिणमित होते हैं, उसीकालमें सहज ही जीवका चित्विकार भी उस उदयका निमित्तमात्र प्राप्त होने पर उसी भाँति उसीप्रकारके भावसे, उसीप्रकार बनकर, उसीप्रकार स्वाँगकर, उसीप्रकार अनुसरण करके चित्विकारभाव होते हैं।

जो क्रोधरूप पुद्गल उदयरूप परिणमित हो, तो उसीकालमें चित्विकार भी उसीप्रकारका होता है, इस प्रकार सर्व जानना। जीवके इस प्रकारके चित्विकार भावोंको औदयिकभाव कहते हैं। अथवा जब इन एकक्षेत्रावगाही पुद्गल प्रकृतियोंके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय—इन तीन प्रकारसे नष्ट होनेके उपाय द्वारा पुद्गल प्रकृति नष्ट होती है। तब उसीकालमें इस जीवका उस प्रकारका चित्विकार भी निःसंदेह नष्ट हो जाता है। जब चित्विकार नष्ट हुआ तब केवल एक चित् स्वयं ही प्रगट हो जाता है। परन्तु एक विशेष बात है—

जिस प्रकारकी प्रकृतियोंके नष्ट होनेका भाव हो, चित् शुद्धताको उसीप्रकारका नाम प्राप्त होता है। प्रकृतियोंका उपशम हो तो चित्को उपशम शुद्धता नाम प्राप्त होता है। प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे चित्को क्षयोपशम शुद्धता नाम प्राप्त होता है प्रकृतियोंके क्षयसे चित्को क्षायिक शुद्धता नाम प्राप्त होता है। इस प्रकार जीवके औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक चार भाव हुए। जो कोई जीवके निजजाति स्वभावको इन भावोंरूप देखता है वह मिथ्यात्वी है।

अब, इन चारों भावोंमें प्रवृत्त एक चित्—इनरूप चित् ही हो गया है, वही चित् (जिस जीवने स्वयंको) एक, केवल, जिन* देखा, वह जीव निजजातिका ज्ञाता हुआ। इन चारों

* जिन = परमात्मा

भावोंमें व्याप्त एक चेतना, वह चेतना (एक जीव) निजरूप होकर प्रगट हुई । तथा शुद्धाशुद्ध लक्षण उसी चेतनाके भाव ठहरे । जब शुद्धभाव हैं तब अशुद्ध नहीं हैं, जब अशुद्धभाव हैं, तब शुद्ध नहीं हैं । तथा कितने ही काल तक शुद्ध-अशुद्ध दोनों भाव भी होते हैं, परन्तु तो भी यह चेतना इन भावोंमें सदा पाई जाती है (प्राप्त होती है), कभी भी अस्त नहीं होती क्योंकि अनादि अनन्त रहती है । अतः ज्ञाताके चेतनाहीका जीवरूप आचरण है । एक चेतना ही द्वारा जीवरूप प्रगट होता है । निःसंदेह जीव एक चेतनारूप ही प्रगट हुआ । इति अजीव अधिकारः ।

(१७) कर्त्ता-कर्म-क्रिया अधिकार वर्णन

जिस वस्तुसे परिणाम प्रवाह उठा करता है, उस वस्तुको उस प्रवाहका कर्त्ता कहते हैं । तथा उस वस्तुके उस परिणाम प्रवाहको कर्म संज्ञा कहते हैं । तथा उस वस्तुके उस परिणाम प्रवाहको कर्म संज्ञा कहते हैं, उस परिणाम प्रवाहमें पूर्व परिणामका व्यय होना और उत्तर परिणाम उत्पन्न होना क्रिया है । तो भी कर्त्ता-कर्म-क्रिया तीनों एक वस्तुके होती हैं; वस्तुत्वमें कुछ भेद नहीं है । जैसे मिट्टी कर्त्ता, घड़ा कर्म, पिंड आकर नष्ट होकर घट आकार होना क्रिया, इस प्रकार एक मिट्टी वस्तुमें इन तीन भावोंका विकल्प करते हैं परन्तु कर्त्ता-कर्म-क्रिया ये तीनों मिट्टीके ही हैं, एक मिट्टीसे भिन्न नहीं । इन तीनों भेदोंमें मिट्टी एक ही है तीनों मिट्टीसे ही उत्पन्न हुए हैं । उसीप्रकार चेतनवस्तुके तीनों चेतन ही होते हैं, अचेतन वस्तुके तीनों अचेतन ही होते हैं । अपनी अपनी वस्तुसे ये तीनों

व्याप्यव्यापक होते हैं, पर सत्तासे व्याप्यव्यापक कोई नहीं होता—यह मर्यादा सदाकालसे है ।

एक कर्त्ताके चेतन-अचेतन दो कर्म नहीं होते हैं, एक कर्मके चेतन-अचेतन दो कर्त्ता नहीं होते हैं । एक कर्त्ताकी चेतन-अचेतनरूप दो क्रियायें नहीं होती हैं । एक क्रियाके चेतन-अचेतन दो कर्त्ता नहीं होते हैं । एक कर्मकी दो क्रियायें नहीं होती हैं और एक क्रियाके दो कर्म नहीं होते हैं । एक कर्त्ताके चेतन कर्म अचेतन क्रिया नहीं होती है, अचेतन कर्म चेतन क्रिया नहीं होती है । एक कर्मके चेतन कर्त्ता, अचेतन क्रिया नहीं होती है, अचेतन कर्त्ता, चेतन क्रिया नहीं होती हैं । एक क्रियाके चेतन कर्त्ता अचेतन कर्म नहीं होते हैं, चेतन कर्म, अचेतन कर्त्ता नहीं होते हैं । अतः एक चेतन सत्त्वके एक चेतन जातिके कर्त्ता, कर्म, क्रिया तीनों व्याप्यव्यापक जानने । अचेतन एक सत्ताके एक अचेतन जातिके कर्त्ता-कर्म-क्रिया व्याप्यव्यापक जानने । अन्य द्रव्यका कर्त्ता अन्य द्रव्य किसी प्रकार भी नहीं होता है, अन्य द्रव्यका कर्म अन्य द्रव्यरूप नहीं होता है । अन्य द्रव्यकी क्रिया अन्य द्रव्यकी नहीं है । निःसंदेह किसी प्रकार भी नहीं होती है । ज्ञाता जानता है, मिथ्यात्वीको कुछ सुध (-बोध) नहीं है ।

पुनः अन्यत्—परद्रव्य परिणमन करानेके लिये स्वयं निमित्तका कर्त्ता नहीं है तथा कोई द्रव्य किसी द्रव्यको परिणमन नहीं कराता है, क्योंकि कोई द्रव्य निःपरिणामी (-अपरिणामी) नहीं, सर्वद्रव्य परिणामी हैं । अन्य कोई जानेगा कि जीव पुद्गल मिलकर एक संसारपरिणति उत्पन्न हुई है वही अनर्थ है, क्योंकि दो द्रव्य मिलकर कभी भी एक

परिणति नहीं करते । यदि एक परिणतिरूप हो, तो दोनों द्रव्यका नाश हो जाय । यह दूषण है । अतः चित्विकार संसार-मुक्तिरूप स्वयं ही व्याप्यव्यापक होता है, तथा भिन्न प्रवर्तता है । तथा वहाँ ही पुद्गल ज्ञानावरणादि कर्मत्वरूपसे व्याप्यव्यापक होकर अनादिसे भिन्न ही सदा परिणमता है, इतना ही जानना ।

जीव पुद्गलको परस्पर संसारदशामें निमित्तनैमित्तकभाव जानना, सहज ही आप-आपरूप भिन्न-भिन्न परिणमन करते हैं । किसी भी जीवका पुद्गलसे परस्पर सम्बन्ध कुछ नहीं है । जिन्होंने यह कर्त्ता-कर्म-क्रियाका भेद भले प्रकार जाना, उन्होंने अपनी चेतना भिन्न जानी, अपनी परिणतिकी शुद्धता हुई, तथा वे ही संसारसे भले प्रकार विरक्त होते हैं, परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति उन्हींको होती है । इति कर्त्ता-कर्म-क्रिया अधिकार ।

(१८) पुण्य-पाप अधिकार

पौद्गलिक पुण्य-पाप एक कर्मके दो भेद हैं । इन दोनोंकी एक कर्म जाति है, दोनों कर्मसे अभेद हैं दोनों परस्पर अविरोधी हैं, अचेतन हैं, जीवके चित्विकारमें भी पुण्य-पाप उत्पन्न होते हैं, वे दोनों एक विकारभावके भेद हैं, विकार जाति एक ही है, दोनों विकारसे अभेद है; दोनों आकुलतारूप हैं, संसाररूप हैं, खेदरूप हैं, औपाधिक हैं, तथा दोनों कर्मबन्धके निमित्त हैं, दोनों स्वयं एक बन्धरूप हैं, उनसे मोक्ष कैसे हो ? इनसे मोक्ष कभी भी नहीं होता । जो इन दोनोंसे मोक्ष होनेकी प्रतीति करता है; वह अज्ञानी है क्योंकि जो स्वयं बन्धरूप है, उनसे मोक्ष कैसे हो ?

एक जीवका निजजातिरूप चेतनास्वभाव प्रगट होने पर मोक्ष है । उस चेतनाका स्वभाव मोक्षरूप है । निःसंदेह उसकी प्रगटतासे केवल मोक्ष ही है । इसलिये ज्ञाताके ऐसी चेतनाका आचरण है, अतः उसे सहज ही मोक्ष होता है । जीवका विकार पुण्य–पाप केवल बन्धरूप है, त्याज्य है । एक जीवका चेतनास्वभाव ही मोक्ष है ॥ इति पुण्यपापाधिकारः ॥

(१९) आस्रवाधिकार

आस्रव अर्थात् आना । चित्विकाररूप राग, द्वेष, मोह ये जीवके आस्रव हैं । मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग ये अचेतन पुद्गलके आस्रव हैं । अतः चित्विकाररूप राग–द्वेष–मोह तो पौद्गलिक आस्रवमें निमित्तमात्र हैं । तथा पौद्गलिक मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योगरूप ये आठ प्रकार आदि कर्मवर्गणा आनेमें निमित्त हैं । इस कारणसे जब जीव ज्ञानरूप परिणमित हुआ, तब ही राग, द्वेष, मोहरूप चित्विकाररूप आस्रवसे रहित हुआ तब सामान्यसे ज्ञानीको निरास्रव कहते हैं । ज्ञानी निरास्रव मुख्य नाम पाता है । तथा यदि ज्ञानीको भेदसे देखते हैं तो जब तक ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुणोंका जघन्य प्रकाश है, तब तक आत्माका स्वभाव जघन्य कहलाता है, तब तक ऐसा जघन्य ज्ञानी बुद्धिपूर्वक तो निरास्रव है तथा जघन्य ज्ञानीके अबुद्धिपूर्वक रागभावरूप परिणाम कलंकसे आस्रव बन्ध होता है । अतः जघन्य ज्ञानी बुद्धिपूर्वक परिणामोंसे निरास्रव और निर्बन्ध प्रवर्तता है ।

जब अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, चारित्रादि उत्कृष्ट प्रकाशरूप प्रगट हुए तब आत्मस्वभाव उत्कृष्ट कहलाता है । ऐसे उत्कृष्ट ज्ञानीके बुद्धि–अबुद्धिभावका नाश हो गया जिससे

उसे सर्वथा साक्षात् निरास्रव और निर्बंध कहते हैं । उत्कृष्ट ज्ञानीके निरास्रव और साक्षात् निरास्रव ये दो विशेष भेद जानने । ऐसा चेतन आस्रव विकार है । अतः हे संत । तू एक निजजाति चेतना ही जीवका निजस्वभाव जान । इति आस्रव अधिकारः ।

(२०) बंधाधिकार

बन्ध अर्थात् सम्बन्ध । जीवका चारित्र विकार राग बन्ध है । चिकना रूखा पुद्गलोंका ही बन्ध है ।

भावार्थः—पौद्गलिक कर्मवर्गणाओंमें तो परस्पर चिकने रूखे भावसे सम्बन्ध करता है । ऐसा पुद्गल कर्मस्कन्ध रागी जीवके राग परिणामोंसे जीव प्रदेशोंमें चिपकता है । इसप्रकार चेतन विकार बन्ध और अचेतन बन्ध जानना । राग जीवका विकारभाव है, एक चेतना ही जीवका स्वभाव जानना वह चेतना ही जीव है । बन्धभाव विकार ही है, जीवत्व नहीं है । इति बन्धाधिकारः ।

(२१) संवराधिकार

हे संत ! काललब्धि प्राप्त होने पर जितने कर्म नष्ट हुए, उतना जीवका विकार भी नष्ट हुआ है । विकारके नाश होने पर जितने सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि स्वरूपरूप होकर प्रगट हुए, वे विकाररूप नहीं प्रवृत्त हुए, उसे संवरभाव कहते हैं ।

भावार्थः—जो शक्ति विकाररूप नहीं होती है वह

संवरभाव है । जीवके ऐसा संवरभाव होने पर उस जीवके कर्मवर्गणाओंका आना भी सहज ही रुकता है । इसीप्रकार जीव संवर, पुद्गल कर्म संवर दोनों होते-होते जीव अपने आप सर्व संपूर्ण स्वभावरूप प्रगट होता जाता है । तथा सर्व कर्मवर्गणाओंका उस जीवकी ओर आना रुक जाता है । इस प्रकार जो संवररूपमें प्रगट हुआ; वह एक चेतनाहीका स्वभाव जानना । वह चेतना जीव (वस्तु) है । संवर वह कोई भाव (दशा, अवस्था) है । इति संवराधिकारः ।

(२२) संवरपूर्वक निर्जराधिकार

जैसे-जैसे पुद्गलकर्म विपाक देकर नष्ट होता है, वैसे-वैसे चितविकारके भावभेद भी नष्ट होते हैं । तथा जो भाव नष्ट हो गए फिर उनका होना रुक जाता है । इस प्रकार अचेतन-चेतन संवरपूर्वक कर्म और विकार दोनों नष्ट होते हैं, वह संवरसहित निर्जरा है. ऐसी निर्जरा होते होते जीवका स्वभाव प्रगट होता है, कर्म सब दूर होता है, अतः निर्जरा एकभाव है और जो निर्जरावन्त चेतना है वह एक चेतना जीववस्तु है । इति संवरपूर्वक निर्जराधिकारः ।

(२३) मोक्षाधिकार

इस प्रकार संवरपूर्वक निर्जरा होते-होते जब जीवगुण (गुणविकार) एक कर्मपुद्गल अथवा जीवद्रव्य (प्रदेश विकार) एक कर्मपुद्गल सर्वथा जीवसे भिन्न होते हैं; तब इन पुद्गल-कर्मके सर्वथा नष्ट होते ही जीवका गुणविकार और जीवका प्रदेश विकार सर्वथा नष्ट हो जाता है । जब इसप्रकार पुद्गलकी रोक और जीव विकार सर्वथा नष्ट होते हैं तभीसे मोक्षभाव

कहते हैं, ऐसा मोक्षभाव होने पर साक्षात् जीवका सर्व निजजाति-स्वभावरूप प्रगट हुआ । सर्व स्वभावभाव अनादिसे विकाररूप होनेसे गुप्त हो रहा था, वह भी काल प्राप्त होनेपर कुछ विकार दूर हुआ, उसी समय कुछ स्वरूपभाव साक्षात् प्रगट हुआ । उतना ही स्वरूप बानगी (नमूना) में संपूर्ण स्वरूप वैसा ही प्रतिबिंबित होता है और तबसे स्वरूप क्रमक्रमसे प्रगट होते-होते साक्षात् होता है ।

भावार्थ—जितना स्वरूप विकाररूप हुआ था, उतना ही स्वरूप साक्षात् व्यक्त हुआ । इसी-इसी प्रकार स्वरूप आत्माके उत्कृष्ट स्वरूपको साध रहा था, प्रकाशित करता था सो सर्व संपूर्ण प्रगट सिद्ध हुआ । संपूर्ण साक्षात् प्रगट हुआ, अन्य कुछ प्रगट होना शेष नहीं है । जो जिस भाँतिसे स्वरूप प्रगट होना था वह पूर्ण प्रगट हो गया । इस प्रकार आत्माका स्वरूप संपूर्ण परिणाम प्रवाहरूप उत्पन्न हुआ ।

उस आत्माको नाम (संज्ञा) से क्या कहते हैं ? परमात्मा, सिद्ध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वस्वविश्रामी, मुक्त, धर्मी, केवल, निष्केवल, स्वयं । तात्पर्य यह है कि सर्व मोक्षभावमें जैसा जीवका स्वरूप था, वैसा ही सर्व परिणमित हुआ । मोक्ष एक भाव है, और जो मोक्षवंत चेतना है सो एक जीव निजजाति है । इति मोक्ष अधिकार ।

(२४) कुनयाधिकार

जो कोई विकल्प इस प्रकार मानता है-स्वभावभाव परिणतिरूप होगा तभी तो स्वभाव माना, अन्यथा नहीं मानो तो उस अज्ञानीने वस्तुका नाश किया, वस्तुको नहीं जाना । तथा जो कोई इस प्रकार मानता है स्वभावभाव प्रगट

परिणतिसे क्या है ? वस्तुहीसे कार्य सिद्धि है ? तो ऐसे अज्ञानीने स्वभावभाव परिणतिका नाश किया, शुद्ध होनेका अभाव किया, विकार परिणति सदा रखनेका भाव किया, मुक्त होनेका नाश किया ।

तथा जो कोई इस प्रकार मानता है—यह जो कुछ करता है, सो सर्व पुद्गल कर्म करता है, जीव न कुछ करता है, न कराता है, जैसाका तैसा भिन्न रहता है—तो वह अज्ञानी स्वयंको शुद्ध-अशुद्ध दोनोंरूप नहीं देखता है, वह विकार-अविकार स्वभाव दोनोंको नहीं जानता है, वह विकारको नहीं छोडेगा । तथा कोई इस प्रकार मानता है— पुद्गल विपाक निमित्तमात्रसे क्या है ? स्वयं स्वयंको निमित्त होकर स्वयं विकाररूप परिणमता हूं ? तो उस अज्ञानीने विकारको नित्य माना, स्वरूपके समान माना ।

सविकल्प अमूर्त्त द्रव्यके छाया तो नहीं है, परन्तु कोई अज्ञानी (जन) जीवके छाया स्थापित करके उस छायाको कर्म विडंबना लगाता है, जीवको भिन्न रखता है तो उस अज्ञानीके यह छाया भी एक वस्तु है, जीव उस छायासे अन्य किस क्षेत्रसे आया ? तथा कोई अज्ञानी इस प्रकार मानता है— स्वचेतन पर अचेतन, इतना ही ज्ञान-दर्शन होनेपर जीव सर्वथा मोक्षरूप हुआ है, साक्षात् सिद्धपदको प्राप्त हुआ, सर्वथा ज्ञानी हो निवृत्त हुआ तथा जीवको अब कुछ शुद्ध होना शेष नहीं है, उस पुरुषने भावइन्द्रिय, भावमन, बुद्धिपूर्वक, अबुद्धिपूर्वक तथा जितनी जीवकी अशुद्ध प्रगट चित्तविकाररूप परिणति उतनी जीवद्रव्यकी नहीं जानी । जीवद्रव्य वर्तमान वर्तता नहीं देखा, उसने एकदेशभावको संपूर्णभाव स्थापित किया । यह भावइन्द्रिय आदि परिणति किसी और द्रव्यकी

स्थापित की, तब उस पुरुषने अशुद्ध परिणति रहनेसे अशुद्ध नहीं माना। तथा इस अशुद्ध परिणतिके जानेसे (नष्ट होनेसे) जीव पर्यायको शुद्ध नहीं मानेगा, तब उस पुरुषने साक्षात् परमात्वस्वरूप–संपूर्णस्वरूप–सर्वथा मोक्षस्वरूप होनेका अभाव किया, सदा संसार रखनेका उद्यम किया।

तथा कोई अज्ञानी इस प्रकार मानता है–स्वसंवेदन शक्तियोंको संपूर्ण स्वभावरूप ज्ञान होना मानता है, इतनी ही ज्ञानकी शुद्धता मानता है, इतने ही ज्ञानको सर्व होना मानता है, इतने ही स्वसंवेदनभावको स्वरूप मानता है, इसीको सिद्धपद मानता है, अन्य सर्व भावोंसे जीवको शून्य मानता है, चारित्रगुणके स्वभावके समान ज्ञान–दर्शनके स्वभावको मानता है; उस अज्ञानीने ज्ञानका निजस्वभाव स्वज्ञेय–परज्ञेय प्रकाशक नहीं श्रद्धान किया, तथा उस पुरुषने स्वको देखनेका परको देखनेका दर्शनगुणका निजस्वभावरूप श्रद्धान नहीं किया है, तथा उस पुरुषको स्वपरका भेद नहीं उत्पन्न होगा। क्यों? परको जाननेपर स्वका भी जानना होता है क्योंकि परपद तो तब स्थापित होता है जब पहले स्वको स्थापित करे और स्व तब स्थापित होता है जब पहले पररूप स्थापित होता है। और इसीप्रकार कहता है कि ज्ञानके स्वभावको ही स्व स्थापित करनेका है, मेरे ऐसा ही ज्ञान प्रगट हुआ है, तो यह पुरुष बातोंके द्वारा तो ऐसा भाव कहता है परन्तु उस पुरुषके स्वस्थापनाका ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है। स्वस्थापनका ज्ञान जब उत्पन्न होता है, तब परको पररूप स्थापनका भाव उत्पन्न होता है। ऐसा स्वपरप्रकाशक ज्ञानका, दर्शनका निजस्वभाव ही है। तथा इस स्वभावको नहीं माने तो ज्ञान–दर्शनगुण नष्ट हुआ। जब गुण नष्ट हुआ तो द्रव्य नष्ट हुआ। जब

द्रव्य नष्ट हुआ तो वस्तु नष्ट हुई। एक स्व-संवेदनको माननेसे सर्व एकांत स्थापनसे इस प्रकार नष्ट होनेकी परंपरा सिद्ध होती है, अन्य कुछ साध्य सिद्धि नहीं है।

तथा कोई अज्ञानी इस प्रकार मानता है—जब तक ज्ञान कुछ जानता है तब तक ज्ञान मलिन है। जब ज्ञानका जानना स्वभाव मिट जाता है तभी जीव सिद्धरूप होता है।

वह अज्ञानी ज्ञानका स्वभाव मूलसे नहीं जानता है। वह इस प्रकार नहीं जानता कि 'ज्ञान' तो उसको कहते हैं जो 'जानता' है तथा वह 'जानना' ही नष्ट किया तब उसे 'ज्ञान' कैसे कह सकते हैं? उस ज्ञानगुणका नाश ही हुआ, तब वस्तुका नाश सहज ही हुआ! इसीके समान बहुतसे अनर्थ जानना। इति कुनयाधिकार।

* * *

सम्यग्भावस्य यथाऽस्ति तथाऽवलोकनाधिकार

[सम्यग्भावका स्वरूप जिस प्रकार है उसीप्रकार अवलोकन करनेका अधिकार।]

(कोई ऐसा मानता है कि) चेतन, अचेतन, द्रव्य, गुण, पर्यायरूप जितने भी ज्ञेय हैं उतनेहीका जो देखना जानना वह देखना जानना ही चेतनद्रव्यकी सिद्धि है। अरे! सब ज्ञेयका देखना जानना प्रकाशके समान है। इतनेसे (ही) तो उस जीवद्रव्यकी सिद्धि नहीं हुई। निःसंदेह चेतनाका पिण्ड—चेतन ग्रन्थि इतनी जीववस्तुकी सिद्धि है। हे जीव! यदि कोई कर्म, शरीर, कषाय, राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, नाम, यशःकीर्ति, इन्द्रिय, पुण्य, पाप, जीवस्थान, योनि, मार्गणा,

गुणस्थान आदि सर्व पौद्गलिक भावोंको जीववस्तुरूप प्रतीति करे तो जीववस्तुकी सिद्धि नहीं होगी। ये भाव तो सर्व अचेतन परद्रव्यके परसत्त्वस्वरूप हैं। जीव वस्तुकी 'चेतनाभाव पुंज' इतनी ही सिद्धि है।

तथा यदि कोई अज्ञान, अदर्शन, मिथ्यात्व, अविरति, शुभ, अशुभ, भोग, राग, द्वेष, मोह आदि चित्तविकारको ही जीववस्तुरूप प्रतीति करेगा तो विकारसे जीववस्तुकी सिद्धि नहीं है वह तो चेतनका कलंकभाव है। जीव वस्तुकी 'मूल चेतनामात्र' इतनी ही सिद्धि है।

तथा सम्यक्त्व होना, एकाग्रता होना, यथाख्यात होना, अंतरात्माभाव होना, सिद्धभाव होना, केवलज्ञान, केवलदर्शन होना, स्वभाव प्रगट होना इत्यादि भावोंके होनेको कोई जीववस्तु जानेगा तो अरे! वे प्रगट होनेके भाव तो सर्व चेतनाकी अवस्था है—दशा है। जीव वस्तुकी 'चेतनामात्र मूलस्थान' इतनी ही सिद्धि है।

कोई (यदि) संसार–मुक्तिभावको जीववस्तु जानेगा तो, हे जीव! वह भी तो चेतनाकी दशा है। जीव वस्तु 'मूल चेतनामात्र' इतनी ही है। तथा कोई अमूर्त्तादि भावोंको जीववस्तु जानेगा, तो हे जीव! वह तो अचेतन द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं। जीव वस्तु 'मूलस्थान चेतनामात्र' इतना ही है। तथा कर्त्ता, कर्म, क्रिया, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, द्रव्य, गुण, पर्याय, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, सामान्य, विशेष इत्यादिभाव भेदोंको जीव वस्तु जानेगा, तो वह भेद तो सर्व वस्तुओंकी नित्य अवस्था है। जीव वस्तु 'चेतनामात्र मूल वस्तु' इतनी ही है।

तथा द्रव्यार्थिकसे वस्तुभाव प्रगट होता है, तथा पर्यायार्थिकसे वस्तु प्रगट होती है, अथवा निश्चयसे वस्तु प्रगट होती है, अथवा व्यवहारसे वस्तु प्रगट होती है, इन भावोंको कोई जीववस्तु जानेगा, तो वह भी तो वस्तुकी अवस्था है–वस्तुकी दशा है । जीववस्तुकी 'चेतना वस्तु मूल' इतनी ही सिद्धि है ।

सर्वका भावार्थ यह है कि जो चेतना वही जीववस्तुकी सिद्धि है । जीववस्तु एक चेतना निष्पन्न हुई । अन्य भेद विकल्परूप जीववस्तु कहीं भी, (भूलकर भी) कभी भी, किसी भी प्रकार नहीं होती । एक चेतना हीके भेदसे जीव-द्रव्यकी सिद्धि हुई । चेतनासे जीववस्तुकी सिद्धि निःसंदेह दर्शायी गई । अब यह चेतना निःसंदेह प्रगट करते हैं ।

हे भव्य ! सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सुख, भोगादि इन भावोंसे बंधित एक पिंड–एक (मिश्रण)–एक पुंजको चेतना कहते हैं । इसी पुंज पिंडरूपसे चेतना सिद्ध हुई । चेतना इन गुणोंकी गांठ सिद्ध हुई । इन ज्ञानादिभावोंसे जो कुछ अन्य सर्वभाव हैं, वे कोई भाव चेतनाको प्राप्त नहीं हुए । चेतनासे निःसंदेह इन ज्ञानादिभावोंकी सिद्धि हुई ।

सर्वका भावार्थ यह है कि कोई अन्य भाव चेतनारूप नहीं होते । चेतना इन ज्ञानादिभावसे उत्पन्न है ।

अब कोई प्रश्न करता है—जो चेतनासे जीववस्तु अनादिसे सिद्ध है तथा इन ज्ञानादिभावोंसे अनादिसे चेतनाकी सिद्धि है, तो उसीसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि उत्पन्न हुए, वह उत्पन्न होना क्या है ? उसे तू सुन :—

मित्र ! यह उत्पन्न हुई चेतना तथा चेतनाके ज्ञानादिभाव

तो अनादिसे जिसप्रकार हैं उसीप्रकार ही हैं, इनमें तो कुछ हलचल नहीं हुई है। प्रत्यक्ष हैं, कहीं आये-गये नहीं हैं, इस बातमें कुछ भी संदेह नहीं है। हे भाई! वस्तु तो सत् है, विद्यमान है, परन्तु अनादिसे यह विभाव-विकारभाव दोष इस जीवको उत्पन्न हुआ इस कारणसे पागल जैसी दशा हो रही है। वह क्या?

स्वको पररूप स्थापित करता है, परको स्वरूप स्थापित करता है, स्वका-परका नाम भी नहीं जानता है, दर्शन, ज्ञान, सम्यक्त्व, चारित्र, परमानंद, भोगादिभाव विकारी हो गये, उनमें ज्ञान तो अज्ञान विकाररूप प्रवृत्त हुआ, तब स्वज्ञेय आकारको नहीं जानता है, परज्ञेय आकारको नहीं जानता है, स्वज्ञेय-परज्ञेयका नाम मात्र भी नहीं जानता है। इस प्रकार ज्ञानकी शक्ति अज्ञानरूप हो प्रवृत्त हुई।

दर्शन, अदर्शन, विकाररूप प्रवृत्त हुआ-तब स्वदृश्य (देखने योग्य स्व) वस्तु नहीं देखता है पर दृश्य (देखने योग्य पर) वस्तु नहीं देखता है, स्वदृश्य और परदृश्य नाम मात्र भी नहीं जानता है, इस प्रकार दर्शनकी शक्ति अदर्शनरूप ही प्रवृत्त हुई। स्वकी स्वरूप प्रतीति नहीं है, परकी पररूपसे प्रतीति नहीं है, इस प्रकार सम्यक्त्वकी शक्ति मिथ्यारूप हो प्रवृत्त हुई।

चारित्र विभावरूप प्रवृत्त हुआ-तब निज वस्तुभाव स्थिरता-विश्राम आचरण छोड़कर; चारित्रकी सर्व शक्ति पर पुद्गल स्वांगवत् विकारभावोंमें स्थिरता-विश्राम आचरणरूप प्रवृत्त हुई। इस प्रकार चारित्र विभावरूप प्रवृत्त हुआ।

भोगगुण विभावरूप प्रवृत्त हुआ—तब निज स्वरस स्वादभोग छोड़कर, पर पुद्गल स्वांगवत् चित्विकारभावोंके स्वादभोगरूप प्रवृत्त हुआ, इस प्रकार भोगकी शक्ति विभावरूप प्रवृत्त हुई ।

इस प्रकार भैया ! जब चेतना विकाररूप हुई, तब यह चेंतना स्वयं नास्तिरूप जैसे हो रही थी । ऐसा कोई कौतुक (आश्चर्यजनक)रूप हुआ जैसे हाथ ऊपर रखी वस्तुको अन्य स्थानमें देखते फिरते हैं, वही दशा इस चेतनाकी हो गई । ' स्वयं नास्ति ' यह भ्रमरूप उत्पन्न हुआ । काल प्राप्त होनेपर सम्यक्त्वगुण, श्रद्धागुण तो विकारसे रहित होकर सम्यक्त्वरूप हो प्रवृत्त हुआ, अपने शुद्ध श्रद्धानरूप हो प्रवृत्त हुआ । ऐसे निर्विकल्प सम्यक्त्वको सम्यक्रूप कहना । तथा जब विशेष भेद विकल्पसे सम्यक्त्वगुणको सम्यक्रूप कहना हो तब इस प्रकार कहते हैं—

स्वजातिका स्वजाति द्वारा भिन्न निर्णय हुआ, इतना तो विकल्प जानना । ' सम्यक् ' इतना तो निर्विकल्प जानना । तथा उसी समय ज्ञानगुणकी कितनी ही शक्तियाँ सम्यक्रूप परिणमित हो केवल जाननेरूप प्रवृत्त हुई, इन ज्ञानकी शक्तियोंको सम्यक्रूप इतना कहना निर्विकल्प ।

जब सम्यक्ज्ञान शक्तिके भेद विकल्प करें तब—स्वज्ञेय जाति भेद जानना, परज्ञेय जाति भेद भिन्न जानना, इसप्रकार विकल्प करें । सम्यक्ज्ञान शक्ति इतना कहना निर्विकल्प ।

उसी समय दर्शनगुणकी कितनी ही शक्तियाँ सम्यग्दर्शनरूप हो प्रवृत्त हुई केवल (मात्र) दर्शनरूप हुईं । इस प्रकार तो निर्विकल्प दर्शनको ' सम्यक्त्वरूप ' कहना और जब सम्यक्दर्शनकी

सम्यक् शक्तियोंको विशेष भेद द्वारा कहना हो तब—स्वदृश्य वस्तु जाति भिन्न देखना, परदृश्य वस्तु जाति भिन्न देखना, इस प्रकार तो विकल्प, और दर्शन शक्तिको 'सम्यक्' इतना कहना निर्विकल्प है।

उसी समय चारित्रगुणकी कितनी ही शक्तियां सम्यक्रूप हो प्रवृत्त हुई—केवल चारित्र निजरूप हो प्रवृत्त हुई। इसप्रकार जब चारित्र शक्तियोंको 'निर्विकल्प सम्यक्' कहा तब चारित्रकी सम्यक् शक्तियोंको भेद विकल्पसे इस प्रकार कहना—परको छोड़ना, निजस्वभावभावमें स्थिरता—विश्राम—आचरण करना यह भी विकल्प है। चारित्र शक्तियोंको 'सम्यक्रूप' इतना कहना निर्विकल्प।

उसी समय भोगगुणकी कितनी ही शक्तियाँ सम्यक्रूप हो प्रवृत्त हुईं—केवल निजभोगरूप प्रवृत्त हुईं। इस प्रकार भोगगुणकी शक्तियोंको निर्विकल्प 'सम्यक्' कहना और भोगगुणकी शक्तियोंको भेद विकल्पसे इस प्रकार कहना। पर स्वाद छोड़कर निजस्वभावोंका स्वाद लेना, विकल्प (भेद) हैं, भोग शक्तियोंको 'सम्यक्' इतना कहना निर्विकल्प है।

इस प्रकार सम्यक्त्व गुणकी सर्व शक्तियां, ज्ञानादि गुणोंकी कितनी ही शक्तियाँ सम्यक्रूप हुई। इस सम्यक्त्वको भेदाभेद विकल्पसे दिखाया। इनका अभेद पूंज रूप—गांठरूप चेतना वह चेतना कितने ही अंशमें सम्यक्रूप हुई जितनी ही चेतना सम्यक्रूप उत्पन्न हुई। वह चेतना सम्यक्से अभेद निर्भेद है। तथा इस चेतनाको सम्यक्रूप उत्पन्न होते जीव वस्तुको सम्यक्रूप उत्पन्न हुआ कहलाता है. केवल निजरूप हुआ कहलाता है। जैसा स्वयं था वैसा ही अपने आप प्रगट

हुआ, मूलस्वरूप परिणमित हुआ । तथा निम्न प्रकार भी कहा जाता है—

अनादिसे विकाररूप अटवीमें भ्रमण करते हुए इस जीववस्तुने अब निज सम्यक्रूप गृहमें आकर निवास किया । इस जीवका मूल सम्यक्भाव था, वह मूल (अपना) भाव गुप्त हो रहा था वह अब कैसा प्रगट हुआ वह कहते हैं ।

अब यह जीव अपने सम्यक्भाव प्रगटनेसे अपने सम्यक् स्वभावरूप समुद्रमें स्वयं ही मग्न हुआ । यह सम्यक्भाव जीवको सर्व अन्य विकल्पोंसे भिन्न दिखलाता है । एक गुणकी अपेक्षा अन्य सर्व अनंतगुणोंका पुंज वस्तु कहलाता है । उस वस्तुको ज्ञान जानता है, दर्शन देखता है, चारित्र स्थिरीभूत होकर आचरण करता है; वह इस प्रकार—

ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मैं हूँ, अथवा चेतना मात्ररूप मैं हूँ, यह विकाररूप मैं नहीं हूँ; सिद्ध समान मैं हूँ, बंध, मुक्त, आस्रव, संवररूप मैं नहीं, अब मैं जागा, मेरी नींद गई । मैं अपने एक स्वरूपको अनुभव करता हूँ, मैं सर्वांग स्वरूपको अनुभव करता हूँ, मैं इस संसारसे भिन्न हो गया, मैं स्वस्वरूपरूप हाथी पर आरूढ़ हुआ, मैंने अशुद्धभाव पट (किवाड़) खोलकर स्वरूप घरमें प्रवेश किया, मैं इन संसार परिणामोंका तमाशगीर (दर्शक) हुआ, इन्द्रियादि भाव मेरा स्वरूप नहीं है, मैं अभेदरूपको अनुभव करता हूं, मैं निर्विकल्प आचरण करता हूँ, निश्चय, व्यवहार, नय, प्रमाण, निक्षेपादि अब मेरे नहीं हैं, ज्ञानादि गुणोंकी पर्यायरूप भेदभाव हैं, मेरे गुणस्वरूपमें भेदभाव नहीं हैं ! गुणस्थानादिभाव मेरा स्वरूप नहीं, अब मैं अपने आपको देखता जानता हूँ; अब मैंने

स्वभावभाव भिन्न किया, परभाव भिन्न किया, मैं अमर हूँ, इस प्रकार अनेक अनेक भाँति मन वचनमें सम्यक्भावकी स्तुति होती है ।

बारबार मनमें चिंतन करता है, इस प्रकार विचारता हुआ सुख मानता है. परन्तु यह सर्व मन वचनका विकल्प चिंताभावका प्रवर्तन है । मन वचनके विकल्प हैं । परन्तु सम्यक्भावका तात्पर्य इतना ही है—

ज्ञानपरिणाम तो सम्यक्ज्ञान परिणामरूप वर्तते हैं । दर्शन परिणाम तो केवल सम्यक्दर्शन परिणामरूप वर्तते हैं, चारित्र परिणाम तो केवल एक सम्यक् स्वचारित्र परिणामरूप वर्तते हैं । भोग परिणाम तो एक सम्यक् स्वभोगरूप वर्तते हैं, इस प्रकार अपने अपने स्वभावरूप साक्षात् प्रगट हुए परिणाम प्रवर्तते हैं ।

इस प्रकार विशेषरूपसे ज्ञानादिगुण, सामान्यरूपसे एक चेतना ही—ऐसे स्वभावरूप प्रवर्तते हैं । सम्यक्भाव टंकोत्कीर्ण निश्चलरूप धारण किये हुए परिणमित होता है । इतने कथनसे जो कुछ अन्य प्रकार कहना, वह निःसंदेह सब दोष विकल्प है । क्योंकि उस सम्यक्भाव प्रगट परिणमनमें अन्य परमाणु-मात्रका भी कोई लगाव (सम्बन्ध) कुछ नहीं । केवल एक अपने आप स्वरूप परिणाम प्रवाह होता रहता है, वहाँ अन्य कोई बात नहीं, अन्य कोई विकल्प नहीं । सम्यग्दृष्टिके द्रव्यमें ऐसी सम्यग्धारा प्रगट हुई है । उनके तो इसी प्रकार प्रवर्तना है, परन्तु अन्य भांति जो कुछ स्वरूपका कथन वह सर्व दोष विकल्प मन वचनके हैं ।

इति सम्यग्भावाय यथाऽस्ति तथाऽवलोकन अधिकारः ।

सम्यक् निर्णय

अब अन्य कुछ नहीं । द्रव्य जैसाका तैसा ही जानना । जीवके सम्यक् होना ऐसा जानना जैसा पागलसे सयाना (चतुर) होना । इतना ही दृष्टांत भले प्रकार जानना । तथा ज्ञानादि सम्यक्का एक रस, अनेक रस ही पिंड है, दृष्टांत– जैसे पांच रसोंको मिलाकर एक गुटिका बनी । उस गुटिकाका अब विचार करना तो यदि पांचों रसोंको देखें तो एक–एक रस अपने अपने ही स्वादको लिये सर्वथा अन्य रससे भिन्न–भिन्न प्रवर्तता है । किसी रसका स्वाद किसी रसके स्वादसे नहीं मिलता । सभी रस प्रत्यक्ष अपने अपने स्वादरूप अचल दिखते हैं । तथा यदि गुटिका भावकी ओर देखें तो उस गुटिका भावसे बाहर कोई रस नहीं है, जो रस है वह गुटिकाभावमें तिष्ठता है, उन पांचों रसोंका जो मिलकर पुंज या पिंड वही गोली । इस प्रकार कथनमें तो भेद विकल्प–सा आता है, परन्तु एक ही समय पांचों रसोंका मेलरूप भाव एकांत गोलीका भाव है । सो प्रत्यक्ष शुद्ध दृष्टिसे दृष्टांत और दार्ष्टान्त देखना ।

इस प्रकार सम्यक्त्वगुण और सम्यक्ज्ञानादि गुणोंकी शक्ति सम्यक्रूप हुई । वे ही पांचों गुण अपने अपने सम्यक्रूप भिन्न–भिन्नरूप परिणमित होते हैं । किसी गुणका सम्यक्भाव किसी अन्य गुणके सम्यक्भावसे नहीं मिलता । सम्यक्त्वका जो वस्तु आकार श्रद्धान सम्यक् है, वही श्रद्धान सम्यक्रूप परिणमता है । ज्ञान शक्तियोंका आकार जाननामात्र है, वही इतना सम्यक्भाव भिन्न ही परिणमित होता है ।

दर्शनशक्तियोंका वस्तु देखने मात्र है, वही सम्यक्भाव भिन्न ही परिणमित होता है ।

चारित्रशक्तियोंका निजवस्तुके स्वभावमें स्थिरता विश्राम आचरणमात्र इतना ही सम्यग्भाव है वही चारित्रका सम्यग्भाव भिन्न ही परिणमित होता है ।

भोगशक्तियोंका निजवस्तुके स्वभावहीमें आस्वादरूप सम्यक्भाव है, वह भाव इतना ही भिन्न परिणमित होता है ! ये पांचों सम्यक् अपने अपने भावसे परिणमित होते हैं, कोई किसीमें नहीं मिलता और अपने अपने सम्यग्भावसे च्युत भी नहीं होते, जैसेके तैसे भिन्न-भिन्न परिणमित होते है । इस प्रकार तो सम्यक् भेदाभेदभावरूप भिन्न-भिन्न प्रवर्तते हैं ।

तथा जो दूसरे दृष्टिकोणसे विचार करें, तो ज्ञानादि सम्यक् चेतनारूप सम्यक्भावसे भिन्न नहीं है, जरा भी बाह्य नहीं हैं । सर्व सम्यक् चेतनाभावमें निवास करते हैं । इन पांचों ज्ञानादि सम्यक्का पुंज स्थान ही चेतना सम्यक् है । उन पांचों ज्ञानादि भावके मिलनेसे एक चेतना सम्यक्भाव उत्पन्न हुआ । पांचों सम्यक्भावोंका एक समवाय एक समयमें एकवार परिणमित होता है, उस पुंजको चेतना सम्यक्भाव कहते हैं । इस प्रकार इन पांचों भावोंको एक चेतना सम्यक्भावरूप ही देखना । भेद सम्यक्भाव व अभेद सम्यक्भाव कथनमें भिन्न हैं, परन्तु ज्ञान दर्शनमें एक ही साथ दोनों भाव प्रतिबिंबत होते हैं । उन पांचों सम्यक्के कारण चेतना सम्यक् है और चेतना सम्यक्के कारण वे पांचों सम्यक् हैं ।

कोई अज्ञानी दोनोंको भिन्न-भिन्न मानता है । उस अज्ञानीने (मान्यतामें) दोनों भावका नाश किया । कुछ भी

वस्तुका अस्तित्व नहीं रहा । जैसे ऊष्णताभाव भिन्न अन्य स्थान कहना, अग्निभाव भिन्न अन्य स्थान कहना । तब वहाँ वस्तु तो न दिखाई दे । अतः वस्तुका अभाव होकर शून्यत्वका प्रसंग आता है । तथा तू ऐसा जान कि ऊष्णता भेदभाव, अग्नि अभेदभाव एक-ही साथ है तथा वस्तु भी इसीप्रकार है । इस प्रकार भेद सम्यक्भाव, अभेद सम्यक्भाव एक ही स्थान है । निःसंदेह वस्तु इसीप्रकार ज्ञानमें प्रतिबिंबित होती है । इस प्रकार भेद सम्यक्भाव, अभेद सम्यक्भाव दोनों एक ही स्थान परिणमित होते हैं ।

जब जिसकालमें जिस जीववस्तुको यह सम्यक्भाव प्रगट हुआ, वही जीवसत्त्व उसीकालमें भेद सम्यक्भावरूप, अभेद सम्यक्भावरूप एक स्थान ही परिणमित होता है, सम्यक्रूप परिणमित होता है । वे ही जीव सम्यक्भाव द्वारा भले प्रकार शोभाको प्राप्त होते हैं ।

प्रथममें प्रथम जब इस प्रकार कितने ही सम्यक्भावको धारण करके जीव प्रगट परिणमित हुआ, उतने भावरूप स्व-अपने आप-केवल-निर्विकल्प निःसंदेहरूपसे निजस्वरूपसिद्ध साक्षात् आत्मा प्रगट हुआ । इतने ही भावसे आत्मा निज-स्वभावमें इतना स्थिर हुआ ।

तथा अनादिसे जीव स्वभावरूपसे असिद्ध हो रहा था, निज स्वधर्मसे च्युत हो रहा था । जितना आत्मा स्वभावरूप प्रथम प्रगट हुआ-स्वरूपभावका जितना नमूना प्रथम प्रगट हुआ, उतने स्वरूपके नमूनेके प्रगट होनेसे जीववस्तुको निजस्वभावजाति सिद्ध हुई, स्वधर्मने जीववस्तुका स्वरूप दिखलाया ।

इस जीववस्तुका मूल निजवस्तुस्वभाव मैं हूँ । वस्तुके

स्वधर्मसे वस्तु साधी जाती है, यह मूल जीववस्तुका स्वभावभाव है । इतने स्वभावके नमूनेके प्रगट होनेसे पहले यह प्रगट हुआ ।

तथा किसीने प्रश्न किया–जैसे सम्यक्त्वगुणको सम्यक् होना कहा, उसीप्रकार ज्ञानादिगुण सम्यक् न कहे, उन ज्ञानादि गुणोंकी कितनी ही शक्तियाँ सम्यक् हुई कही, इनमें क्या भेद (रहस्य) है ?

उत्तर:—यहाँ सम्यक्त्वगुण तो सर्व सम्यक् हो गया है, तथा ज्ञानादिक गुणोंकी कितनी ही शक्तियां सम्यक्रूप हुई, ज्ञानादिगुणोंकी अन्य कितनी ही शक्तियां अबुद्धिरूप मलिन हैं । क्षीणमोह कालके अंतमें ज्ञानादिगुणोंकी सर्व अनन्त शक्तियां सम्यक्रूप होगीं, तब ज्ञानादिगुण सर्व सम्यक् हुए कहलायेंगे ।

पुनः अन्य प्रश्न—जो ज्ञानादि गुण क्षीणमोह कालके अंतमें सर्व सम्यक् होगे तो वहाँ द्रव्यको ही सम्यक् नाम क्यों न कहा ?

उत्तर—हे भाई ! उस कालमें सर्व शक्तियोंसे सर्व गुण तो सम्यक् हुए, परंतु द्रव्यके प्रदेशोंके कंपनरूप विकारसे भी द्रव्य कुछ मलिन है, तथा वह विकार भी अयोगी गुणस्थानके अंतमें नष्ट होगा, तब द्रव्य सर्वथा सम्यक्रूप होगा । तीनलोकके ऊपर केवल एक जीव द्रव्य अपने आप तिष्ठेगा । इति सम्यक् निर्णयः ।

(२६) अथ साधकसाध्यभाव

जो साधता है वह उसीका साधकभाव जानना । जिस भावके प्रवर्तन हुए विना आगेके अनन्तर (उत्तर समयके) भावका प्रवर्तन न हो, उसी भावका (साधक भावका) प्रवर्तन काल हो–प्रवर्तित हो तभी उस आगेके भावका (साध्यभावका) प्रवर्तन अवश्य साधा जाता है । अन्य भावके प्रवर्तन (होने) पर वह (साध्य) नहीं साधता है ।

कोई अज्ञानी इस प्रकार जानेगा कि उस आगेके भावको यह भाव अपने बलसे प्रवर्तन करता है, जोरावरीसे परिणमाता है; इस प्रकार साधकभाव मानना वह तो अनर्थ है ।

साधकभाव इतना ही जानना कि वह (साध्य) भाव अपने बलसे प्रवर्तता है परंतु यह है, उस भावके प्रवर्तन कालमें इस (साधक) भावका भी प्रवर्तन होता है । इस प्रकार उस (साधक) भावका होना इस (साध्य) भावके होनेमें साक्षीभूत अवश्य होता है । उस भावको मात्र साधकभाव संज्ञा इस अवसर पर जानना ।

जैसे दिन जब दोपहररूप प्रवर्तता है, तब ही दुपहरिया पुष्प विकसित कार्यरूप प्रवर्तता है । यहाँ दुपहरिया पुष्प विकसित होनेमें दोपहर दिनका होना अवश्य प्रत्यक्ष साक्षीभूत है, ऐसा भाव साधक जानना ।

साध्यका अर्थ—जो साधा जाय अथवा साधित हो उसको साध्य संज्ञा है । उस भावके होने पर अन्य भाव अवश्य ही प्रवर्तित हो, उस भावके होनेसे इस भावका होना अवश्य साधा जाता है अतः इस भावको साध्य कहते हैं । जैसे दोपहर होनेरूप साधकभावसे दुपहरिया पुष्पके विकासितरूप होनेका

कार्य साधा जाता है । इतने भावसे दुपहरिया पुष्पका विकसित होना साध्य कहलाता है ।

साधक—साध्यभावके उदाहरण

एक क्षेत्रावगाही पुद्गलकर्मोंका उदय सहज ही स्थितिरूप होता है वह साधकस्थान जानना और उस होने कि स्थिति तक चित्विकार होनेका प्रवर्तन पाया जाता है वह साध्य भेदरूप जानना ।

सम्यक्त्वविकार साधक, बहिरात्मा साध्य है । प्रथम सम्यक्भाव होना साधक, वस्तुस्वभावजाति सिद्ध होना साध्य है । शुद्धोपयोग परिणति होना साधक है, वस्तुका परमात्म-स्वरूप होना साध्यभाव है । सम्यग्दृष्टिके व्यवहार रत्नत्रयका युगपत् होना साधक है, निश्चय रत्नत्रय साध्य है । सम्यग्दृष्टिके विरतिरूप व्यवहार परिणति होना साधक है, चारित्रशक्ति मुख्यस्वरूप होना साध्य है । देव, गुरु, शास्त्रभक्ति विनय, नमस्कारादिभाव साधक है, विषयकषाय आदि भावोंसे हटकर मन परिणतिका स्थिरताभाव साध्य है । एक शुभोपयोगकी व्यवहार परिणतिकी रीति होना साधक है, परंपरा मोक्ष परिणति होनी साध्य है ।

अंतरात्मारूप जीवद्रव्य साधक है, अभेद स्वयं ही परमात्मरूप जीवद्रव्य साध्य है । ज्ञानादिशक्ति मोक्षमार्गरूपसे साधक है, अभेद स्वयं ही ज्ञानादि गुण मोक्षरूपसे साध्य है । जघन्य ज्ञानादि भाव साधक है, अभेद स्वयं ही उन्हीं ज्ञानादि गुणोंका उत्कृष्टभाव साध्य है । स्तोक निश्चय परिणतिसे ज्ञानादिगुण साधक है, अभेद स्वयं ही बहुत निश्चय परिणतिरूपसे

ज्ञानादिगुण साध्य है । सम्यक्त्वी जीव साधक है, उस जीवके सम्यक्ज्ञान, दर्शन, सम्यक्चारित्र साध्य है । गुण मोक्ष साधक है, द्रव्यमोक्ष साध्य है । क्षपकश्रेणी चढ़ना साधक है, तद्भव साक्षात् मोक्ष साध्य है ।

तथा द्रव्य यति और भाव यतिपनाका व्यवहार साधक है, साक्षात् मोक्ष साध्य है । *भावितमनादि रीति विलय साधक है, साक्षात् परमात्मा केवलरूप होना साध्य है । पौद्गलिक कर्म खिरना (झड़ना) साधक है, चितविकारका विलय होना साध्य है । परमाणुमात्र परिग्रह प्रपंच साधक है, ममताभाव साध्य है । मिथ्यादृष्टि होना साधक है, संसारभ्रमण होना साध्य है, सम्यग्दृष्टि होना साधक है, मोक्षपद होना साध्य है । जब काललब्धि साधक है, तब द्रव्यको वैसा ही भाव होना साध्य है । इस प्रकार साधक-साध्यभाव भेद-अभेदरूपसे बहुत प्रकारसे जानना ।

इति साधकसाध्य अधिकारः ।

* * *

---

* भावितमनके विकार विलय होने पर साक्षात् मोक्ष होता है ।

(अनुभवप्रकाश)

(२७) मोक्षमार्ग अधिकार

जब प्रथम ही काललब्धि प्राप्त होने पर सम्यक्गुण ज्ञान, दर्शन, चारित्र, परमानन्द, भोगादि गुणोंकी जितनी शक्ति निर्मलरूप होकर प्रवर्तित हुई । जीवद्रव्य उतना ही निजधर्मसे सिद्ध हुआ । तबसे जीवको मुख्यतः सम्यग्दृष्टि संज्ञा कहते हैं, अथवा ज्ञानी भी कहते हैं तथा दर्शन, चारित्रादि स्वभाव संज्ञासे भी जीवको कहें तो कोई दूषण नहीं है, परन्तु लोकोक्तिमें सम्यग्दृष्टि जीवको उपरोक्त मुख्य संज्ञा (ज्ञानी)से कहते हैं ।

ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवके जबसे ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि स्वभावरूप प्रगट हुए तबसे मोक्षमार्ग प्रारंभ हुआ–प्रवर्तित हुआ । (परन्तु एक बात है) तबसे मुख्य चारित्रगुणकी शक्तियोंका स्वभाव प्रगट होता हुआ समझना । उसमें मन, वचन, कायका प्रथम विवरण कहते हैं ।

मिथ्यात्व गुणस्थानमें तो एक मुख्य विषय–कषायादि अनर्थ पापरूप अशुभोपयोगरूप मनादिमें प्रवर्तता है तथा चौथे गुणस्थानसे देव–गुरु–शास्त्रादे प्रशस्तोंमें भक्ति, विनयरूप शुभोपयोगरूप–मनादिकी वृत्ति मुख्य जैसी होती है तथा विषय–कषाय हिंसादिरूप अशुभोपयोगरूप मनादिकी वृत्ति भी अपने अपने कालमें होती है ।

इसके पश्चात् पांचवें गुणस्थानमें विरति–व्रतादिरूप शुभोपयोगरूप मनादिकी वृत्ति मुख्य प्रवर्तती है तथा कभी गौणरूपसे अशुभोपयोगरूप भी मन आदि (वृत्ति) प्रवर्तती है । छठवें गुणस्थानमें यह भोग, कांक्षा, कषाय, हिंसादिरूप अशुभोपयोगरूप मनादिकी वृत्ति सर्व नाश जैसी हो जाती है ।

तथा सर्व विरति–सर्वव्रत निर्ग्रंथ क्रियामें यह जो सर्व संयम, द्वादशांग अभ्यास, देव–शास्त्र–गुरु भक्ति क्रियादिरूप, एक केवल ऐसे शुभोपयोगरूप मनादिकी वृत्ति प्रवर्तती है। यहाँ इतना विशेष जानना कि—चौथे गुणस्थानसे छठवें गुणस्थान तक स्वस्वभाव अनुभवरूप शुद्धोपयोगकी भी कुछ कुछ कदाचित् कदाचित् मनकी वृत्ति प्रवर्तित होती है—ऐसा जानना।

सातवें गुणस्थानमें शुभोपयोगरूप मनादिकी वृत्ति नाश होती है तथा केवल एक शुद्धोपयोग–स्वअनुभवरूप उत्पन्न होता है उसका विवरण—

इस कायकी चेष्टा–हलन, चलन, गमन, उठना, बैठना, कांपना, फड़कना, जंभाई, छींक, उद्गारादि सब काय चेष्टा थी–वह नष्ट हुई। काष्टकी प्रतिमावत् स्वयं ही पद्मासन या कायोत्सर्ग आकार हुआ। काय, इन्द्रिय, रीति, विषयवांछा थी वह नष्ट हो गई। निश्चल काष्ठ प्रतिमा और इसमें कुछ भेद नहीं रहा। काष्ठ प्रतिमावत् जब शरीरकी दशा हुई तब वचन क्रिया थी वह सहज ही रुक गई। यदि वह काष्टकी प्रतिमा बोले तो वहाँ यह अप्रमत्त साधु भी बोले (अवाची काष्ट प्रतिमावत्)।

यहाँ अष्टदलरूप द्रव्यमन भी निष्कंप हो गया, द्रव्य पौद्गलिक मन आदिकी रीति (क्रिया) तो इसप्रकार सहज ही स्थगित हो गई। तथा जीवके ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि विकाररूप होकर विषयोंहीके ऊपर–इन्द्रवत् इन्द्रियके मार्गसे प्रवर्तते थे, वे शरीर इन्द्रियोंका अभ्यास–मार्गप्रवर्तन छोड़कर एक स्ववस्तुभाव अभ्यासरूप मार्गमें प्रवृत्त हुए।

तथा जीवके ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि विभावरूप होकर

वचनविषयमें प्रवर्तते थे, वे (परिणाम) भी वचन-अभ्यासरूप मार्ग छोड़कर एक स्ववस्तुभाव अभ्यासरूप मार्गमें परिणमित हुए, प्रवृत्त हुए । तथा जीवका ज्ञान, दर्शन, चारित्रादिरूप भावमन विकाररूप होकर अष्टदल कमलस्थानमार्गसे अनेक इष्ट-अनिष्ट, लाभ-अलाभ, अशुभ-शुभोपयोगादिभावरूप विकल्प समूहोंमें चंचल अभ्यासरूप प्रवर्तता था, वह भावमन एक स्ववस्तुभाव सेवनके लिये अनुभवरूप प्रवृत्त हुआ । अन्य सर्व विकल्प चिंताओंमें था उससे मुक्त हुआ, और वह एक स्ववस्तुभाव अनुभव करनेमें प्रवृत्त हुआ ।

इसप्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि विकाररूप मन, वचन, काय, व्यवहारपरिणतिरूप था वह नष्ट हो गया, एक स्ववस्तुभाव सेवनरूप अनुभवरूप निश्चयसंयुक्त हुआ, तब उसे ही संयमी, शुद्धोपयोगी तथा प्रधान अनुभवी कहते हैं । वहाँ परभावोंका अर्थात् व्यवहार परिणतिका सर्व सेवन मिट गया, एक केवल आत्मस्वरूपके अनुभव निश्चयरूप परिणति प्रवृत्त हुई । इसप्रकार यह मनादिकी वृत्तिका स्वरूपमें एकाग्रतारूप वह शुद्धोपयोग उत्पन्न हुआ ।

जब यह शुद्धोपयोग उत्पन्न हुआ; तब यश, अपयश, लाभ-अलाभ, इष्ट-अनिष्ट आदि सर्वभावोंमें समानभाव हो गया । समानपने (मुख्यतासे) कोई आकुलता शेष नहीं है ।

जब यह शुद्धोपयोग प्रगट हुआ, तबसे परमात्म-सुखका अतीन्द्रियस्वाद प्रगट होता जाता है । इसप्रकार जब शुद्धोपयोगका कारण उत्पन्न हुआ, तभीसे मुख्यरूपसे साक्षात् मोक्षमार्ग कहते हैं । तथा तभीसे चारित्रगुणकी मुख्यतासे मोक्षमार्ग जानना ।

सातवें गुणस्थानसे जैसे-जैसे आगेका [अग्रिम गुण-

स्थानोंका] काल आता है, उस-उस कालमें चारित्रादि गुणोंकी अनेक अनेक शक्तियों पुद्गल वर्गणाके आच्छादन और चित्विकारसे मुक्त हो-होकर साक्षात् निश्चय निजस्वभाव शक्तिरूप परिणमित होती जाती हैं। इसीप्रकार जैसे-जैसे आगेका काल आता है, वैसे-वैसे चारित्रादि गुणोंकी अनेक अनेक शक्तियां पुद्गलवर्गणाके आच्छादन और चित्विकारसे मुक्त हो-होकर साक्षात् निज-निजस्वभाव शक्तिरूप होती जाती हैं। इसप्रकार समय समयमें चारित्र शक्तियोंका मुक्तरूप होनेका प्रवाह प्रति समय समय बढ़ता जाता है।

वह शुद्धशक्ति ही मोक्षमार्ग अवस्था जानना। यह मोक्षमार्ग वर्तते-वर्तते जब क्षीणमोह अवस्था आई, तबसे मनादिकी रीति, परिणति, ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि शक्ति स्ववस्तु अभ्यासरूप शुद्धोपयोगरूप थी, तथा किंचित् ज्ञान दर्शन चारित्रादि शक्ति अबुद्धिरूप व्यवहारपरिणतिरूप थी, वे शक्तियां सर्वथा मुक्त होकर निजजाति स्वभावरूप निश्चय परिणतिरूप होती गई। आत्म-अभ्यासभाव भी मुक्त होते होते उस क्षीणमोह अवस्थाके अंतके समयमें ही चारित्रगुणकी सर्व ही अनन्तशक्तियां-मोह पुद्गल आच्छादन और विकारसे मुक्त होकर निजवस्तुस्वभावरूप हुई। जब चारित्रगुणकी (सर्व ही) अनन्तशक्ति निजवस्तु-स्वभावमें ठहरकर स्थिरीभूत हुई, तब ही चारित्रगुण मोक्षरूप उत्पन्न हुआ कहा जाता है।

तब ही परमानन्दभोगगुणकी सर्व ही अनन्तशक्ति मुक्त होकर निजवस्तुस्वभाव आस्वादभोगरूप उत्पन्न हुई, वहाँ भोगगुण मोक्षरूप उत्पन्न हुआ कहा जाता है। तब ही ज्ञान, दर्शन, वीर्यादि गुणोंकी अनन्त-अनन्तशक्ति मोक्षरूप उत्पन्न हुई। उसकी स्तुति—

सर्व लोकालोकका प्रत्यक्ष ज्ञायक-दर्शक हुआ, सर्वज्ञ सर्वदर्शी हुआ, लोकालोक प्रतिबिंबित हुआ, अतीत, अनागत, वर्तमानकी अनन्त-अनन्त पर्याय-सर्व प्रत्यक्षरूपसे एक ही साथ उत्कीर्ण (आलेखित) हुई । ज्ञान दर्शन संपूर्ण स्वरूपरूप हुए । ज्ञान, दर्शन, वीर्यादि गुणमोक्षरूप उत्पन्न हुए ।

अप्रमत्त अवस्थासे चारित्रादि गुणोंकी शक्तियोंका मोक्षरूप होनेका मार्गप्रधानतासे आरंभ हुआ था, वह मार्ग यहाँ परिपूर्ण होकर उत्पन्न हुआ । वे चारित्रादिगुण मोक्षरूप निष्पन्न हुए तब गुणमोक्ष संपूर्ण हुआ । इति गुणमोक्षमार्ग विवरणं । गुणमोक्षमार्ग चौथे गुणस्थानसे प्रारंभ हुआ था, बारहवें गुणस्थानके अंत तक संपूर्ण हुआ ।

(२८) अन्तर्व्यवस्था कथन

ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि शक्तियोंका कर्मानुभवसे भेदभाव होना-पृथक् होना, ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि शक्तियोंका स्वरूपमें आना तथा तीनों शक्तियोंके विकारका नाश होना; ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि शक्तियोंकी निश्चय परिणति होना; ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि शक्तियोंकी व्यवहार परिणतिका विलय होना; ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि शक्तियोंकी शुद्धताकी उत्कृष्ट वृद्धि होना; ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि शक्तियोंकी अशुद्धताकी हानि होना; ज्ञानगुणकी शक्तियोंका एकाकार जाननेरूप सम्यक् होना; दर्शनगुणकी शक्तियोंका एक अनाकार जाननेरूप सम्यक् होना; चारित्रगुणकी शक्तियोंका एक स्ववस्तुरूपमें आचरण-स्थिरता-विश्राम सम्यक्रूप होना इत्यादि जीवके सर्वभावोंका प्रारंभ

चौथे गुणस्थानसे होता है । तथा बारहवें गुणस्थानके अन्त तक संपूर्ण भाव होता है ।

निःशंकरूपसे ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुणोंका जघन्य भाव; ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि शक्तियोंका साक्षात् क्षयोपशम, होनेरूपभाव, अन्तरात्मभाव, सविकल्पभाव, स्वरूपशक्ति परिणाम, विकारशक्ति परिणाम इत्यादि मिश्रभाव जीवको चौथे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक रहता है ।

चौथे गुणस्थानसे जब चारित्रगुणकी जो जो शक्तियाँ निर्विकल्प अर्थात् बुद्धिपूर्वक राग, द्वेष, विकारसे निवृत्त हो हो कर, केवल निजस्वरूप होकर परिणमित होती है उस काल उन शक्तियोंको तो कोई आस्रव-बन्धका प्रश्न ही नहीं उठता, वे शक्तियां तो स्वरूपसे सिद्ध हो जाती हैं । उसी कालमें उन शक्तियोंको तो कोई विकल्प लगता ही नहीं है; परन्तु चौथे गुणस्थानसे सम्यग्दृष्टिके चारित्रगुणकी शक्ति जब बुद्धिपूर्वक विकल्परूप हो परिणमित होती है अर्थात् जब विषय, कषाय, भोग-सेवनरूप, इष्ट रुचि, अनिष्ट अरुचि, हिंसारूप रति-अरतिरूप, अविरतिरूप, परिग्रह विकल्परूप आदि अथवा शुभोपयोग विकल्परूप आदिसे बुद्धिपूर्वक जो शक्ति परिणमित होती है तब परावलंबन चंचलतारूप मलिन भी होती है, तो भी उस शक्ति द्वारा ज्ञानी आस्रव-बन्ध विकारको उत्पन्न नहीं करता । किस कारणसे ? क्योंकि सम्यग्दृष्टि अपनी बुद्धिपूर्वक विकल्परूप चारित्र चेष्टाको जाननेमें समर्थ है । उस चेष्टाको जानते ही सम्यग्दृष्टिको विषय-भोगादिभाव विकाररूप भिन्न ही प्रतिबिंबित होते हैं तथा चेतना-स्वभावभाव भिन्न प्रवर्तते हैं । एक ही कालमें सम्यक् ज्ञानीको भिन्न-भिन्न प्रत्यक्ष

होते हैं । इस कारणसे उस चारित्रशक्तिमें बुद्धिपूर्वक राग, द्वेष, मोह, विकार प्रवेश नहीं करता ।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि बुद्धिपूर्वक विकल्परूप परिणतिसे भी सर्वथा बारहवें गुणस्थान तक निरास्रव- निर्बंध प्रवर्तता है । तथा उसी सम्यग्दृष्टिकी चेतना विषय, कषाय, भोग, हिंसा, रति, अरति आदि अबुद्धिरूप परिणमते हैं, वे जघन्यज्ञान–सम्यक् मतिज्ञान और सम्यक् श्रुतज्ञानके गोचर नहीं होते; अज्ञान सहित हैं अतः अबुद्धि शक्तियोंमें राग, द्वेष, मोह विद्यमान है । अतएव अबुद्धिरूप किंचित्मात्र चौथेसे दसवें गुणस्थान तक आस्रव–बंधभाव उत्पन्न होता है । जीवके ज्ञानादिगुण व्यवहार परिणति ×अशुद्ध परिणति, अबुद्धि तथा बुद्धिरूप परिणतिरूप दसवें बारहवें गुणस्थान तक परिणमित होते हैं । इति अंतर्व्यवस्था कथन ।

---

(२९) सम्यग्दृष्टि सामान्य विशेषाधिकार

तथा सम्यग्दृष्टि जीवके स्वस्वरूप निर्विकल्प अनुभव बुद्धि–परिणतिमें एक परमाणु भी रागादि विकार नहीं है तथा सामान्यसे सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, चारित्री इसी प्रकार कहा जाता है । मुख्यरूपसे (उन्हें) निर्बन्ध, निरास्रव, निष्परिग्रह, शुद्ध, भिन्न, परमाणुमात्र रागादिरहित कहे जाते हैं, शुद्ध–बुद्ध कहे जाते हैं । विकारका होना नहीं कहा जाता, क्योंकि जैसे सामान्यसे सर्व चेतनद्रव्य वंदनीक ही कहे जाते हैं, निंदित कोई नहीं है ।

× अशुद्धपरिणति = उस भूमिकाके योग्य भावकर्म, व्यक्त अव्यक्त प्रमादादि

तथा विशेष भेद करने पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि जघन्य होनेसे सम्यग्दृष्टिको कथंचित् अबुद्धिपूर्वक आस्रव, बन्ध सरागादि, विकार मिश्रित जीवद्रव्य कहा जाता है तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि उत्कृष्ट होनेसे सम्यग्दृष्टिको सर्वथा, सर्व प्रकारसे साक्षात् निर्बंध, निरास्रव, वीतरागी, निष्परिग्रही जीवद्रव्य कहा जाता है। जैसे स्पर्श करके आमोंका भेदके द्वारा निर्णय करनेपर कोई आम किसी अंशसे कच्चेपनेके कारण मिश्रित भी कहा जाता है परन्तु सामान्यसे वे ही आम निःसंदेह सर्वथा पके हुए कहे जाते हैं।

इति सम्यग्दृष्टि सामान्य विशेषाधिकारः।

हे भव्य! तू इस प्रकार जान—जो पौद्गलिक पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षको तो तीन कालमें, कभी भी जीव बिलकुल भी स्पर्श नहीं करता। यद्यपि एकक्षेत्रावगाही भी हैं, तथापि जीवने उनको कभी भी स्पर्श नहीं किया है।

तथा जो यह दश प्रकारका परिग्रह पुद्गल है—गृह, क्षेत्र (खेत) बाग, नगर, कुए बापी (बावड़ी), तड़ाग (तालाब), नदी आदि सर्व पुद्गल; माता, पिता, स्त्री, पुत्र, पुत्री, वधू, बंधु, स्वजन, मित्र आदि सर्व; सर्प, सिंह, व्याघ्र, हाथी, भैंसा आदि सर्व; दुष्ट—अक्षर शब्द, अनक्षर शब्द आदि सर्व शब्द; खान, पान, स्नान, भोग, संयोग, वियोग आदि सर्व क्रिया, परिग्रह मिलापसे बड़ा परिग्रह नाशसे, दरिद्र आदि सर्व क्रिया; चलना, बैठना, हिलना, बोलना, कांपना आदि सर्व क्रिया; लड़ना, भिड़ना, चढ़ना, उतरना, कूदना, नाचना, खेलना, गाना, बजाना आदि सर्व क्रिया; इस प्रकार इन सर्वको तू पुद्गल स्कंधोंका ही खेल जानना। इनको इस

जीवने कभी भी तीन कालमें स्पर्श नहीं किया । यह तूँ निःसंदेह जान ।

कालके निमित्तसे ये पुद्गल स्वयं आते हैं, स्वयं जाते हैं, स्वयं मिलते हैं, स्वयं बिछुड़ते हैं, अपने आप पुद्गल सम्बन्धसे बँधते हैं, अपने आप पुद्गल घातक होकर घट जाते हैं । देखो ! इन पुद्गलोंका भी अपने पुद्गलकी जातिसे तो सम्बन्ध है, परंतु इस जीवको ये पुद्गल तीनकालमें कभी भी स्पर्शित नहीं हुए । अपने आप ही पुद्गल खेलता है ।

हे संत ! जब यह जीव अनादि विकाररूप प्रवर्तता है, तब इस पुद्गलके खेलको भी देखकर जीव अपने परिणामोंमें ऐसा मानता है । 'ये सर्व कार्य मेरे करनेसे हुए हैं,' यही चित्विकारका माहात्म्य जानों । हे संत ! स्वयं उसको कभी स्पर्श नहीं किया और वह इसको कभी भी स्पर्श नहीं करता । उसको देख—जान कर "मैं करता हूं, इससे सुख प्राप्त करता हूं, इससे खेद प्राप्त करता हूं" ऐसा जीवको प्रत्यक्ष झूठा भ्रम हो गया है । ऐसा तूं जान ।

हे भव्य ! ज्ञानी इस प्रकार निश्चयसे देखता है, जानता है—

सर्व पौद्गलिक वर्ण, रस, गंधादिकोंसे उत्पन्न हुए इस सर्व खेल अखाड़ेसे अपना कुछ भी सम्बन्ध नहीं देखता है क्योंकि यह पौद्गलिक नाटक अन्य द्रव्यका उत्पन्न हुआ है, यह नाटक मूर्तिकका बना है, यह नाटक अचेतनोंका उत्पन्न हुआ है तथा यह नाटक तो अनेक द्रव्य मिलकर प्रवर्तता है । अतः इससे तो मेरा किसी भी प्रकारसे सम्बन्ध तीनकालमें होता दिखाई नहीं देता है ।

क्योंकि मैं तो जीवद्रव्य, मैं तो अमूर्तिक, मैं तो चेतन-वस्तु, मैं तो एक सत्त्व, मैं तो इस प्रकार और वह उस प्रकार (अजीव, मूर्तिक, अचेतन); मुझमें और उसमें पूर्ण और रिक्त जैसा अंतर है; प्रकाश, अन्धकार जैसा अंतर; मुझमें कहीं भी उसके समान सम्बन्ध दिखाई नहीं देता । अतः उसके नाटक कार्यका मैं न कर्त्ता हूं, न हर्त्ता हूं, न भोक्ता हूं किसी कालमें न हुआ था, न होऊँगा और न वर्तमानमें भी हूँ ।

तात्पर्य यही है, ज्ञानी परद्रव्यमें अपना सम्बन्ध सर्वथा कुछ भी नहीं देखता है । अतः इस पुद्गलका नाटक जिस प्रकार जाननेमें आवा है, उस प्रकार नाचे तो नाचो । (वह नाटक) स्वयमेव ही उत्पन्न होता है, स्वयं ही नष्ट होता है, स्वयं ही आता है, स्वयं ही जाता है; मैं न इसके नाटकको रख सकता हूँ, न छोड़ सकता हूँ । इस नाटकके रखने छोड़नेकी चिंता भी झूठी है क्योंकि यह परवस्तु है । अपने गुण पर्याय, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, कर्त्ता, कर्म, क्रियादि सामग्रीसे स्वाधीन हैं । इसीप्रकार जीव, पुद्गल सर्वथा भिन्न हैं और इसीप्रकार भिन्न प्रवर्तते हैं । उसीप्रकार ज्ञान होनेसे ज्ञानी जीव पर पुद्गलको भिन्न देखता जानता है । तथा ज्ञानी इस जीवको इस प्रकार देखता जानता है—

जब तक यह जीव विकारवंत प्रवर्तता है तब तक जो कुछ जिस भांतिकी विकारकी तरंग प्रगट होती है उन्हीं तरंगोंसे व्याप्यव्यापक है, उनका कर्त्ता, हर्त्ता और भोक्ता है । वह विकार एक केवल चेतनाकी ऊपरी दशाका नाम है तो भी वह विकार अमूर्तिक है, एक जीवका ही भाव है, जीवसे अभेद है । तात्पर्य यह है—वह सर्व विकार जीवभाजन्य है (जीवभावसे उत्पन्न हुआ) और संक्षेपसे तो इस

भावको चिद्विकार कहते हैं तथा इस चेतन विकारकी तरंगोंके स्वांगोंका जैसा-जैसा नाम होता है वैसा विशेषरूपसे कहते हैं—

जो-जो पुद्गलमें मूर्तिक स्वांग होते हैं, उस काल उन स्वांगोंके अनुसार जीव अमूर्तिक विकार तरंग स्वांग धारण कर प्रवर्तता है। इस विकारके स्वांगका नाम परभाव कहलाता है; क्योंकि इन स्वांगोंके भेद जीववस्तुमें तो नहीं थे; अतः (इन्हें) निजके कैसे माने? क्योंकि मूलसे यह जीव द्रष्टा-ज्ञाता था। अतः इसके दर्शन-ज्ञान उपयोगमें मूर्तिक नाटक-ज्ञेयस्वांग प्रतिभासित होते हैं। प्रतिभासित होते ही उस कालमें ज्ञान-दर्शनकी शक्ति उसी प्रकार तदाकार ज्ञेयप्रतिभासरूप हुई अर्थात् उस काल उसी आकारमें विश्राम किया अथवा 'उस आकाररूप आत्मा है' ऐसे ज्ञेयप्रतिभासरूप उपयोगशक्तिका आचरण (स्थिरता) हुआ। तब वह उपयोग अपनेको तो न देखता है, न जानता है। उस ज्ञेय आकाररूपसे स्वयं आचरण करता है अर्थात् उसमें आपरूप स्थिर होकर रहता है कि मैं ऐसा हूँ।

हे संत! तू जान कि, ज्ञान-दर्शन-चारित्र द्वारा परज्ञेय भासित होनेपर जीव इस प्रकार स्वांगी होता है क्योंकि इस जीववस्तुमें तो ऐसा स्वांग ही नहीं था। अतः इस भावको जीवका निजभाव कैसे कहें? इस जीवने स्वयं पर ज्ञेयभासका स्वांग धारण कर लिया है; इस कारण इस जीवमें इस स्वांगभावको परभाव कहते हैं। अब उन स्वांगोंके नाम संज्ञाभेदसे कहता हूँ। वह तू सुन—

देखो, इस पुद्गलके अखाड़ेमें मूर्तिक अचेतनका स्वांग बना है, भले (शुभ) वर्ण, रस, गंध, स्पर्शादिकके बने स्कंध पुण्यस्वांग; बुरे (अशुभ) वर्ण, रस, गंध, स्पर्शादिकके बने

स्कंध सो पापस्वांग; मोहादि द्वारा कर्मवर्गणा आनेका राह बना वह आस्रवस्वांग; चिकनी-रूखी शक्तियोंसे परस्पर वर्गणाएँ मिलकर एक पिंडरूप बनना वह बंधस्वांग; वर्गणा आनेका मार्ग रुक जाना वह संवरस्वांग; थोड़ी-थोड़ी वर्गणाओंका अपने स्कंधसे खिर जाना निर्जरास्वांग; सर्व वर्गणा खिर जाना मोक्षस्वांग; इतने स्वांग एकक्षेत्रावगाही पुद्गल ज्ञेयके अखाड़ेमें बनते हैं, वैसे-वैसे ही स्वांग इस विकारी जीवके ज्ञान, दर्शन, चारित्रके द्वारा अमूर्तिक उत्पन्न हुए, किस प्रकार ?

जिस काल उपयोगपरिणाम एकक्षेत्रावगाही पौद्गलिक पुण्यज्ञेयको देखने-जाननेरूप हुए और चारित्रपरिणाम उन्हीं परिणामोंके आकाररूप सुख जैसे विश्रामरूप अथवा सुख जैसे रंजनारूप हुए तब इस प्रकार अमूर्तिक पुण्यस्वांगभेद जीवके उत्पन्न हुआ ।

तथा जिस काल उपयोगपरिणाम एकक्षेत्रावगाही पापज्ञेयको देखने-जाननेरूप हुए और चारित्रपरिणाम उन्हीं परिणामोंके आकाररूपसे संताप, दुःख विश्रामरूप अथवा दुःख रंजित हुए, तब इस प्रकार अमूर्तिक चेतन पाप स्वांग भेद जीवीके उत्पन्न हुआ ।

तथा एकक्षेत्रावगाही (पुराने कर्म) पौद्गलिक मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग, आस्रवका स्वांग बना है । इस जीवके उपयोग परिणाम उस ज्ञेयके देखने जाननेरूप हुए और चारित्रपरिणाम उन्हीं परिणामोंके आकाररूप विश्राम अथवा रंजित हुए । तब उन रंजित परिणामरूप परिणमित होते हुए नये-नये सुखाभासरूप दुःख संताप, दुःखोंके रसस्वाद उत्पन्न होने, उस रसस्वाद होनेके अथवा उस रसस्वाद आनेके कारण,

मार्ग अथवा द्वारको आस्रव नामसे कहते हैं । इस प्रकार उस भावका अमूर्तिक चेतन जीवके आस्रव स्वांगभेद उत्पन्न हुआ ।

तथा नयी नयी वर्गणा आनेके मार्ग पौद्गलिक मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग नष्ट होनेसे नवीन वर्गणा नहीं आती है । इस मार्गका नष्ट होनेका नाम पौद्गलिक संवर स्वांग है । इस जीवके उपयोग परिणाम ज्ञेयके देखने जाननेरूप हुए और चारित्रपरिणाम उन्हीं परिणामोंके आकाररूप विश्राम अथवा रंजित हुए वह रंजित परिणाम नया नया सुखाभावरूप दुःख है और दुःख होनेका कारण है । उस रंजितभाव नहीं होता तब उसके न होनेके नाम अमूर्तिक जीवके संवर भेद उत्पन्न हुआ ।

पौद्गलिक परमाणुओंका स्निग्ध स्निग्ध, रुक्ष रुक्ष, स्निग्ध रुक्ष भाव द्वारा एकसे दूसरेमें दो गुण अधिक होने पर–मिलनेसे परस्पर सम्बन्ध होता है; उस चिकने रुखेसे पौद्गलिक बन्ध स्वांग बनता है । इस जीवके उपयोग परिणाम ज्ञेयके देखने जाननेरूप हुए और चारित्रपरिणाम उन्हीं परिणामोंके आकाररूप विश्राम अथवा रंजित हुए । तब उपयोगोंके जो ज्ञेयाकाररूप परिणाम रंजित होते हैं, उन परिणामोंके आकारोंसे सम्बन्ध करनेवाला रंजन–राग होता है उस ज्ञेय आकारसे सम्बन्ध करनेवाला रंजन राग होता है । ज्ञेय आकारसे रंजितपना (एकता) होता है वह अमूर्तिक चेतना जीवका बन्ध स्वांग भेद होता है ।

तथा पौद्गलिक कर्मस्कंधसे वर्गणाका अंश–अंश खिर जाना पौद्गलिक निर्जरा स्वांग है । इस जीवके उपयोग परिणाम परज्ञेय देखने जाननेरूप हुए और चारित्रपरिणाम उन परिणामोंके आकाररूप विश्राम अथवा रंजितरूप हुए, इसप्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र, परज्ञेय आकारभाससे अशुद्ध परभावरूप हुए है । ज्ञान,

दर्शन, चारित्रादिकोंका परभावरूप (–अशुद्ध) परिणमन जब थोड़ा-थोड़ा नष्ट होता जाता है वह अमूर्तिक चेतन जीवका संवर पूर्वक निर्जरा स्वांग भेद है ।

तथा पौद्गलिक सर्व कर्म स्कंधोंका जीव प्रदेशोंसे सर्वथा पृथक् होकर खिर जाना पौद्गलिक मोक्षस्वांग है । इस जीवके उपयोग परिणाम परज्ञेय देखने–जाननेरूप हुए और चारित्रपरिणाम भी उन परिणामोंके आकाररूप विश्राम अथवा रंजनारूप हुए । इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र परज्ञेय आकारभावसे अशुद्ध परभावरूप हुए हैं । जीवद्रव्यके ज्ञान. दर्शन, चारित्रादिकका परभावरूप जो परिणमन था वह सर्व सर्वथा नष्ट हो जाना वही अमूर्तिक चेतन जीवका मोक्षस्वांग भेद कहलाता है ।

इस प्रकार ज्ञानी चेतन अमूर्तिक जीवके इस नाटकको पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा, मोक्षरूप एक क्षेत्रावगाह पुद्गल नाटकसे भिन्न ही देखता है । पुद्गलसे रंचमात्र भी सम्बन्ध नहीं देखता है । जैसेका तैसा जीव नाटक भिन्न देखता है और फिर अपना (जीवका) नाटक देखता है, वह क्या ?

यह जो एकक्षेत्रावगाही पौद्गलिक वस्तु कर्म नाटक बना है, वैसा ही इस जीवका परभाव नाटक बना है । वैसा ही सो किस प्रकार ? पौद्गलिक मूर्तिक अखाड़ेमें वर्गणा, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, कर्मसंज्ञा स्वांगधारण कर नृत्य करती है । तब उसके अनुसार मान्यता (परिणाम) इस जीवके भी देखे जाते हैं । नाटक किस प्रकार ?

ज्ञान और दर्शनहीका परम निजजातिस्वभाव सर्व लोकालोकको युगपत् सर्व ज्ञेयोंको एक समयमें जानना देखना होता है । यह तो ज्ञान-दर्शनका निजस्वभाव है । अथवा इसको

कोई ज्ञान, दर्शन मात्र ही कहता है । तथा जब इस प्रकार लोकालोकका जानना देखना नहीं हो तब वह ज्ञान–दर्शनगुणोंका सर्वको नहीं जानने; नहीं देखनेरूप भाव अशुद्धभाव है, परभाव है अथवा स्वभावका आवरण है । उस कारण इन (शुद्ध–अशुद्ध) दोनों भावको ज्ञानदर्शन गुण व्याप्य–व्यापक होते हैं । निजभाव सम्यक्रूप और परभाव विपरीतरूप होने पर ज्ञान–दर्शन वस्तु इन दोनों भावोंमें प्रत्यक्ष है ।

अतः देखो मित्र ! एक ज्ञान–दर्शन ही निजभावरूप भी और परभावरूप भी होता है । जब तक ज्ञान–दर्शन परभाव अथवा आवरणभावरूप व्यक्त प्रवर्तते हैं, तब तक ज्ञान, दर्शनगुण निजभाव (अथवा वस्तु नामभाव)रूप नहीं प्रवर्तते हैं । अतः उस परभावके रूप व्यक्त प्रवर्तनसे निजभाव प्रवर्तनकी व्यक्तता आच्छादित है । अतएव ज्ञान, दर्शन-स्वभावोंको परभावकी व्यक्तारूप आवरण कार्य उत्पन्न हुआ ।

तब देखो, यह ज्ञान स्वयं ही आवरणरूप बना है अतः उसको ज्ञानावरण कार्य अमूर्तिक चेतनस्वांगभेद उत्पन्न हुआ है तथा यह दर्शन स्वयं ही आवरणरूप बना है; अतः उसको दर्शनावरण कार्य अमूर्तिक चेतन स्वांगभेद उत्पन्न हुआ है ।

तथा पौद्गलिक कर्म अखाड़ेमें कटुक स्वाद वर्गणा मिलकर असाता तथा मिष्ट स्वाद वर्गणा मिलकर साता इस प्रकार मूर्तिका अचेतन वेदना संज्ञा स्वांग बना है । इस जीवके उपयोगपरिणाम साता अथवा असाता ज्ञेय देखने जाननेरूप हुए और चारित्र परिणाम भी उन परिणामोंके आकाररूप पर विश्राम अथवा रंजनारूप हुए तथा उन्हीं चारित्रपरिणामोंके भावोंके ही अनुसार भोगगुणके हुए परिणाम भोगनेरूप अथवा ज्ञेयभास आस्वादरूप वा वेदनेरूप अथवा विपरीत भावरूप हुए । इस

प्रकार ज्ञेयभास भोगनेरूप विपरीत परिणामोंको वेदन करने रूप कार्य बना है, यह भी इस प्रकार जीवके अमूर्तिक चेतन वेदनास्वांग है ।

तथा उस पौद्गलिक अखाड़ेमें मोह उन्मत्त प्रमादरूप वर्गणा स्वांग धारण करके नृत्य करता है । और उस मोहमें जातिभेद बहुत होते हैं । उनमें एक मोहवर्गणा तो सम्यक्त्व मोह संज्ञा धारण कर उन्मत्त नृत्य करती है । इस जीवके सम्यक्त्वगुणका निजस्वभाव निजसत्त्व वस्तुकी निजजातिरूप अपना आस्तिक्य-यथार्थतारूप-यादरूप आचरण है । यह सम्यक्त्वका भाव है और वही सम्यक्त्व है । उपयोग द्वारा ज्ञेय देखा जाना जाता है, उस ज्ञेय वस्तुको अथवा एक प्रकारको सर्वथा स्ववस्तुरूप आस्तिक्य आचरणरूप व्याप्यव्यापक होता है वही सम्यक्त्व-आचरणगुणका ऊपरीभाव (विपरीतभाव) है: सम्यक्त्वका परभाव है, मिथ्यामोहभाव है अथवा मोहभाव है । इस प्रकार सम्यक्त्व आचरण गुणका इस मिथ्याभावसे व्याप्य-व्यापक होकर कार्य होता है । अमूर्तिक चेतनरूप जीवके जो यह सम्यक्त्वमोह कार्य स्वांग भेद बना है ।

---

(३०) सम्यक्त्वगुणका कुछ विवरण

देखो मित्र ! जैसे उपयोगके दो भेद हैं—सामान्य वस्तु अवलोकन दर्शनगुण है, विशेष अवलोकन ज्ञानगुण है, इसप्रकार सामान्य विशेषसे उपयोगके दो भेद हुए । उसी प्रकार आचरणके दो भेद हुए—सामान्य स्ववस्तु सत्ता प्रति मतिकी आस्तिक्यता-ठीक प्रतीति यादरूप आचरण वह तो सम्यक्त्व आचरण गुण है तथा विशेषरूपसे स्ववस्तुमें स्थिरतारूप अथवा विश्रामरूप

आचरण चारित्राचरण गुण है । इस प्रकार सामान्य विशेष भेदसे आचरणके दो भेद हुए । इति ।

तथा उस पुद्गल अखाड़ेमें चारित्रमोह संज्ञक स्वांगरूप वर्गणा उन्मत्त हुई हैं, उसे भेद करके कहते हैं—

क्रोधः—पौद्गलिक कर्मवर्गणा अपने स्कंधको अथवा परके स्कंधोंको तप्तरूप, दुष्टरूप, उबलनेरूप अथवा खंडन, तोड़न छेदन, मर्दन, संयम घातनादिरूप होकर परिणमित होती है, वह पौद्गलिक क्रोध, चारित्र, मोहका स्वांग बना है । तथा इस जीवके चारित्राचरण गुणका निजभाव तो उपयोग चेतनवस्तुरूप विश्राम स्थिर रहना है; उपयोगों द्वारा परज्ञेय देखते जानते हैं. उस ज्ञेयमें स्थिरतारूप रंजना चारित्राचरणगुणका ऊपरी भाव है—विपरीतभाव है अथवा मोह विकल भाव है । मोहरूप चारित्र-गुणका ऐसा अमूर्तिक चेतन स्वांग बना है, अब उसके भेद कहते हैं—

परज्ञेयको उपयोगोंके द्वारा देखता जानता हुआ उस भिन्न ज्ञेयके प्रति द्वेषरूप, संताप उद्वेगरूप, क्लेप तप्त क्षोभरूप अथवा हतन (नष्ट करना), हिंसन, तोड़ना, खंडन करना, छेदन, भेदन, मर्दन आदिरूप रंजित होना वह अमूर्तिक चारित्रगुणके मोहभावका चेतन क्रोधके भेद स्वांग है ।

मानः—तथा उस पौद्गलिक चारित्रमोह कर्मवर्गणा परिणमनेके कारण मन, वचन, काय, स्कंध दुष्ट क्रूर, स्तब्ध, उन्नत, अकड़, आदिरूप होते हैं, वह पौद्गलिक मान—मोह—भेद उत्पन्न होता है । तब इस जीवके एकक्षेत्रावगाही पौद्गलिक मन—वचन—कायादि शुभ प्रवृत्ति ज्ञेयकोः निकटवर्ती माता, पिता, पुत्र, पुत्री, स्त्री, स्वजन, सम्बन्धी, मित्रादि ज्ञेयकोः उच्चकुल,

जाति, धन, विद्या, कला, रूप, बल, परिग्रह, लाभ, अधिकारी, देशादि संयोग रीति ज्ञेयोंको; और अत्यन्त निकटवर्ती शुभ पुद्गल रीति ज्ञेयोंको उपयोग द्वारा देख-देखकर जान जानकर उन ज्ञेयोंसे अपनेको भला, अपनेको बड़ा, अपनेको पवित्र, अन्य लोगोंसे अपनेको उच्च अपनी स्तुति (प्रशंसा) इत्यादिरूप हो रंजित होना वह अमूर्तिक चेतन चारित्राचरण मोहका मान भेद प्रवर्तता है।

मायाः – तथा उस पौद्गलिक कर्म अखाड़ेमें पौद्गलिक वचन, काय, योग, वर्गणा शुभरूप खिरे हैं, पौद्गलिक वचन काय, वर्गणा दुष्ट क्रूर, तप्तरूप खिरे हैं, पौद्गलिक मन-वर्गणा दुष्टरूप खिरे हैं, अथवा पौद्गलिक मनवर्गणा शुभ सौम्यरूप खिरे हैं। यह भाव पौद्गलिक मोहका इस प्रकारका मायारूप स्वाँग उत्पन्न होता है।

तब (जीवके) सर्व जीव-अजीव स्कंधादि ज्ञेयोंको भिन्न अस्पृष्ट रूपसे उपयोगों द्वारा देखते जानते हुए इस जीवके उन ज्ञेयस्कंध प्रति कितनी ही लोभ, रति आदि रागरूप रंजित बहुत-सी शक्ति और कितनी ही क्रोध, मान, अरति, भय, शोक आदि द्वेष तृष्णा रंजितरूप अल्प शक्ति अथवा द्वेष रंजितरूप प्रचुरशक्ति रागतृष्णा रंजितरूप अल्पशक्ति उस अस्पर्श ज्ञेय समूह प्रति दुविधारूप रंजित होना वह जीवका अमूर्तिक चेतन चारित्रमोहका मायारूप दुविधा स्वांगभेद बनता है।

लोभः—तथा पौद्गलिक कर्म मन, वचन, काय, वर्गणा, स्कंध अन्य स्कंधका कारण प्राप्त होनेपर उस स्कंधके आकर्षण-रूप परिणमित होती है अथवा उस स्कंधसे सम्बन्धरूप परिणमित होती है; वह पौद्गलिक मोहका लोभ स्वांग उत्पन्न होता है। जैसे लोहे और चुम्बकका आकर्षणरूप न्याय।

तब कुटुम्ब परिकर आदि सर्व परिग्रह और यशःकीर्ति आदि सर्व ज्ञेय समूह उन ज्ञेयोंको अस्पर्शरूपसे उपयोगों द्वारा देखते जानते हुए उन ज्ञेय समूह प्रति अत्यागरूप (न छोड़ने रूप) राग तृष्णा अथवा उन ज्ञेयों प्रति तृष्णा–लालच–अभिलाषा–व्यसन–चाह इच्छादिरूप राग रंजितभाव, वह अमूर्तिक चेतन चारित्रमोहका लोभस्वांग भेद प्रवर्तता है ।

हास्यः—तथा पौद्गलिक मन–वचन–कायादि वर्गणाओंके विकसित होनेरूप खिलनेरूप जैसे प्रत्यक्ष आंख, होंठ, दांत आदि अनेक प्रकार चिखनेरूप जोरसे हंसनेरूप होते हैं । वह पौद्गलिक योगोंके खिलनेरूप मोहकर्मका हास्य स्वांग उत्पन्न होता है । तथा बुरेरूप अथवा भलेरूप पौद्गलिक स्कंध ज्ञेय अथवा पौद्गलिक योगोंकी बुरी–भली चेष्टारूप ज्ञेयको उपयोग द्वारा देखते जानते जीवका आनन्दप्रसादरूप–प्रसन्नरूप विकारस्वरूप आदि रंजित होना (रंजना) वह चेतन अमूर्तिक चारित्रमोहका 'हंसना' स्वांग है ।

रतिः—(उस पौद्गलिक आखड़ेमें) पौद्गलिक मन, वचन, काय, योग, वर्गणा स्कंधके जिस अन्य पौद्गलिक स्कंधसे सम्बन्ध करनेको तथा शीघ्रसम्बन्ध करनेको प्रवृत्त होनेसे पौद्गलिक मोहका रतिस्वांग उत्पन्न होता है । तब इस जीवके उपयोग–द्वारा जिस ज्ञेयको देखते जानते हुए उसका स्पर्श करके ज्ञेय प्रति रुचिरूप, रागरूप, हितरूप, स्नेहरूप, आदि रंजित होना, वह अमूर्तिक चेतन चारित्र मोहका रति स्वांग भेद जानना ।

अरतिः—उस पौद्गलिक अखाड़ेमें पौद्गलिक योगवर्गणा स्कंधका अन्य पौद्गलिक स्कंधसे सम्बन्धरूप नहीं प्रवर्तना

अथवा विपरीत उसी स्कंध कारणसे घाते–छेदे जाना पौद्गलिक मोहका अरति स्वांग है । इस जीवके उपयोगों द्वारा देखते–जानते जीव–निर्जीवरूप स्कंधरूप अस्पर्श ज्ञेयोंसे अरुचिरूप, अप्रतितरूप, द्वेषरूप आदि रंजित होना वह अमूर्तिक चेतन चारित्रमोहका अरति स्वांग होता है ।

शोकः—पौद्गलिक योग वर्गणा अन्य स्कंधके नाशसे मुरझायेरूप–कुम्हलायेरूप–विलखनेरूप तथा कायके अश्रुपात आदिरूप, भ्रकुटीको ऊँची करना आदिरूप पौद्गलिक मोहका शोकस्वांग उत्पन्न होता है । जीव–अजीव समूहके नाशभावरूप ज्ञेयको यह जीव उपयोग द्वारा देखता–जानता है; तब उस अस्पर्श स्कंधके वियोगभावरूप ज्ञेयोंसे क्लेशरूप, द्वेषरूप, दुःखरूप, संकल्प–विकल्परूप, संतापरूप आदि जो रंजना (रंजितपना) वह अमूर्तिक चेतन चारित्रमोहका शोक स्वांग है ।

भयः—अब उस पौद्गलिक अखाड़ेमें पौद्गलिक मन, वचन, कायरूप वर्गणास्कंध अन्य जीवनिर्जीव स्कंधका सम्बन्ध प्राप्त कर संकोचनरूप होते हैं, उसके बार (रंग)के पलटनेरूप अथवा कंपनरूप होते हैं अथवा अन्य क्षेत्रमें चले जाते हैं वह भाव पौद्गलिक मोहका भय नामक भेद है, तथा इन ज्ञेयोंको उपयोग द्वारा देखते–जानते उस अस्पर्श ज्ञेयोंसे भयरूप, शंकारूप, अनिष्ट पुद्गलादिरूप रंजितपना वह जीवके अमूर्तिक चेतन चारित्रमोहका भय स्वांग उत्पन्न होता है ।

जुगुप्साः—वह पौद्गलिक मन, वचन, काय, वर्गणा स्कंध अन्य स्कंध सम्बन्धका निमित्त प्राप्त होने पर उसे स्पर्श नहीं करे और नासिका आदि संकोचरूपसे होता है, वह पौद्गलिक मोहका जुगुप्सा स्वांग उत्पन्न होता है । तब इस

जीवके जिस ज्ञेयको उपयोग द्वारा देखते-जानते ग्लानिरूप अनिष्टरूप, बुरेरूप आदि रंजना वह अमूर्तिक चेतन चारित्र-मोहका जुगुप्सा स्वांग प्रवर्तता है ।

पुरुषवेदः—तथा वह पौद्गलिक मन, वचन, काय, वर्गणास्कंध उग्र, उन्मत्त, अङ्गार (गर्म) होता है । प्रमाद, तोड़ने, मोड़ने, लिपटने और आलस्यके आकार होता है तथा शुक्रादि धातुके विकाररूप होता है अथवा अन्य स्कंधसे रमण, आलिंगनरूप होता है, वह पौद्गलिक मोहका पुरुषवेद स्वांग है । तब इस जीवके जो पुद्गल स्कंध ज्ञेयको उपयोग द्वारा देखते जानते हुए उग्र-उन्मादरूप उच्चाटन, अरतिरूप-आतापन, मोहन वशीकरण निर्लज्जरूप और उस अस्पर्श ज्ञेय प्रति पुनः पुनः देखना, जानना, स्मरण करना, भोगना, सेवन करना, स्मरण करना आदि तृष्णारूप रंजना (रंजित होना) वह अमूर्तिक चेतन चारित्रमोहका पुरुषवेद स्वांग होता है ।

स्त्रीवेदः—तथा उस पौद्गलिक अखाड़ेमें पौद्गलिक योग, वर्गणा, स्कंध मन्दरूप उन्मादाकार होकर अंग तोड़ने, मोड़ने, लिपटनेसे आकार, प्रमाद, आलस्य, अंगके आकार तथा रजादि धातु विकार होते हैं । पुनः अन्य स्कंधोंको रमण करानेके कारण होते हैं, ते पौद्गलिक स्त्रीवेद स्वांग है । इस जीवके पुद्गल स्कंध ज्ञेयको उपयोग द्वारा देखते जानते हुए मन्द-मन्द उन्मादरूप, उच्चाटन, अरति, तापन, मोहन, वशीकरण, लज्जा, मायारूप अथवा उस अस्पर्श ज्ञेय प्रति पुनः दिखाने, बतलाने, सेवन-रमण कराने आदि तृष्णारूप रंजना वह अमूर्तिक चेतन चारित्रमोहका स्त्रीवेद नामक भेद है ।

नपुंसकवेदः – तथा पौद्गलिक अखाड़ेमें पौद्गलिक पुरुषस्त्रीवेद मिश्रभावसे पौद्गलिक योगोंका परिणमित होना पौद्गलिक मोहका नपुंसकवेद स्वांग है। तब इस जीवके अमूर्तिक चेतन पुरुषस्त्रीवेद मिश्रभावसे चारित्रगुणका रंजना वह अमूर्तिक चेतन चारित्रमोहका नपुंसक वेद स्वांग है।

देखो भव्य! चेतन चारित्राचरण गुण परभावरूप अथवा मोहरूप हुआ इस प्रकार नाट्य करता है, वह (चेतन) उस पौद्गलिक मोहकर्म नाटकसे भिन्न ही है। वह उस पुद्गलको त्रिकालमें भी स्पर्श नहीं करता। सम्यग्ज्ञानी उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं देखता है।

आयुः —तथा उस पुद्गल अखाड़ेमें आयु नामककर्मका नाटक होता है। वह किस प्रकार है? वही कहते हैं।

जो पौद्गलिक स्कंध जीव प्रदेशसे अस्पर्श्य शरीर आदि पौद्गलिक वर्गणाओंके एक सम्बन्धको स्थिति प्रमाण तक रखता है वह पौद्गलिक आयुकर्म स्वांग उत्पन्न हुआ है। तब इस जीवका चरम देहसे किंचित् न्यून मूल अवगाहना गुण परभावरूप हुआ है तथा अन्य ही अन्य परिणामसे व्याप–व्यापक हो रहा है, मूल परिणामसे च्युत हो रहा है, वह जीवका अमूर्तिक आयु स्वांगभेद है।

नामः—तथा उस पौद्गलिक अखाड़ेमें नामकर्म है वह किस प्रकार है? उस नामकर्मकी कितनी ही प्रकृतियाँ तो मिलकर शरीरके स्कंध प्रमाण मूर्तिरूप होती हैं तथा उस नामकर्मकी कितनी ही प्रकृतियों द्वारा उस शरीर स्कंधमें प्रकृतियाँ मंडना रूप रचना होती हैं तथा उसकी अन्य कितनी ही उस शरीर स्कंधमें शक्तिरूप (संहननरूप) होती

हैं और उसकी कितनी ही प्रकृतियाँ उस छोटे-बडे शरीर स्कंध प्रमाण (संस्थान) रूप होती हैं, तथा कितनी ही प्रकृतियां उस शरीरको सूक्ष्म स्थूल, स्थावर, त्रस श्वासोच्छ्वास, शब्दादिरूप बनाती हैं, इस प्रकार पौद्गलिक नामकर्म अखाड़ा नृत्य करता है।

तब अमूर्तिकगुणके कारण इस जीवके जो असंख्यात प्रदेश अमूर्तिक हैं, उन प्रदेशोंकी निजस्वाभाविक चरम देह परिणामसे किंचित् न्यून मनुष्याकार परिमितिको सूक्ष्म अवगाहना कहते हैं। तथा जब अमूर्तिक प्रदेश विकाररूप प्रवर्तते हैं तब जैसा पौद्गलिक देह आकार और देह परिमित बनती है उसीके अनुसार जीवके भी असंख्यात प्रदेश वैसे ही आकार वैसे ही प्रमाणरूप हो परिणमते हैं। अमूर्तिक जीव प्रदेश इस प्रकार विकाररूप होते हैं। इस रूप एक जीवके ही प्रदेश व्याप्यव्यापक होते हैं। जीवको यह जीव प्रदेश विकाररूप नामकर्म स्वांग उत्पन्न होता है।

गोत्रः—तथा उस पुद्गल अखाड़ेमें पौद्गलिक देह स्कंधको उच्चकी पदवी द्वारा दिखाता है अथवा नीचकी पदवी द्वारा दिखाता है, वह पौद्गलिकभाव गोत्रकर्म स्वांग है, तथा इस जीवके अगुरुलघुगुण है। अगुरुलघुगुण किसे कहते हैं? अगुरुलघु अर्थात् जो द्रव्यके अनन्तगुण अपने अपने स्वभावरूप परिणमित हो, अपने अपने निज जातिरूप निश्चल रहें, उस स्वभाव शक्तिको अगुरुलघुगुण कहते हैं। ऐसा जीवके अगुरुलघु-गुणका निजस्वभाव है। जीव द्रव्यका सर्वथा निज जातिस्वभावरूप कूटस्थ (निश्चल) प्रवर्तना अगुरुलघुगुणका निज जातिस्वभाव है। तथा वही अगुरुलघुगुण विपरीतरूप होता है। विपरीतपना क्या?

द्रव्यके गुणप्रदेश जैसेके तैसे स्वभावरूप नहीं रहना, सर्वथा अन्यसे अन्य हो जाना। पुनः ऐसा होना अगुरुलघुगुणका विपरीत प्रवर्तन है। जीवका अगुरुलघुगुणके परभावरूप गोत्र स्वांग है। यह अथवा इस प्रकार भी (व्याख्यान है)। जीव पापरूप परिणमित हो तो नीचरूप होता है और पुण्यरूप परिणमित हो तो उच्चरूप होता है। इन पुण्य-पाप दोनोंसे अतीत जीवका निज जातिरूप परिणमन है उसका जैसाका तैसा नहीं रहना। इस प्रकार अगुरुलघुके विपरीतभावसे जीवका अमूर्तिक गोत्र स्वांग होता है।

अन्तरायः—तथा उस पुद्गल अखाडेमें जो पौद्गलिक मन, वचन, काय आदि हैं; उनका भी स्फूर्णा—व्यापार—खिरना प्रवर्तन संपूर्ण नहीं होता अपूर्ण खंडित होता है, विघ्न होता है उस विघ्नभावरूप पौद्गलिक अन्तरायकर्म स्वांग है। तब इस जीवके यद्यपि जीवद्रव्यमें गुणोंका निजजातिरूप सकल स्वभाव शक्तिरूप अव्यक्त हो रहा है परन्तु उस गुणसकलस्वभावको जीवद्रव्य अपने परिणामरूप व्यक्तता प्रवाहमें[1] देनेको समर्थ नहीं हो सकता; तथा यह जीवद्रव्य षट्गुणी हानि-वृद्धिसे एक समय भी स्थायी शुद्धस्वरूपरूप पर्याय परिणामों द्वारा निज स्वभाव सुख भोगनेको[2] समर्थ नहीं हो सकता, तथा यह जीवद्रव्य निजजाति स्वभावके एक अद्वितीय स्वादको बारंबार सर्व उत्पाद परिणामोंकी परम्परा द्वारा उपभोग[3] नहीं कर सकता; तथा इस जीवद्रव्यके स्वादभाव भावशक्तिरूप अव्यक्त हो रहे हैं. जीवद्रव्यके परिणाम उस स्वभावका लाभ[4] प्राप्त नहीं कर सकते. तथा इस जीवद्रव्यका सकल निज जातिरूप स्वभाव सर्वथा प्रकार स्फुरणा प्रगट होनेका उस भावरूप रहनेका बल—[5]वीर्यगुण

१. दान गुण २. भोग गुण ३. उपभोग गुण ४. लाभगुण ५. वीर्य गुण

नहीं हो सकता, इस प्रकार जीवका उद्यम-बल-वीर्यगुण निर्बल (होकर) विपरीतभावरूप परिणमित हुआ है, उस रूप अमूर्तिक चेतन अन्तराय स्वांग उत्पन्न होता है ।

हे भव्य ! तू देख ! ज्ञानी इस प्रकारसे आठ भाँतिका अमूर्तिक चेतन नाटक होता हुआ देखता जानता है । उस पौद्गलिक नाटकसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं देखता । क्यों ? यदि कुछ सम्बन्ध हो तो ज्ञानी देखे । परन्तु जब कुछ सम्बन्ध नहीं हो तो ज्ञानी कैसे देखे ? (अर्थात् नहीं देखता है) ।

तथा उस पौद्गलिक नाटक कर्म प्रकृतिके आने जानेके (सद्भाव-अभावके) भेदसे चौदह अखान-स्थानक मुख्य बनते हैं; तब इस जीवके इस विपरीत अशुद्ध परभावके उसी प्रकार घटने-बढ़नेसे चौदह भेद मुख्यरूपसे होते हैं । ज्ञानी चेतन अमूर्तिक जीवके ऐसे चौदह भेद भिन्न-भिन्न देखता है पुद्गलसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं देखता । इस प्रकार जीवका अशुद्ध परभाव नाटक होता हुआ भिन्न ही देखता है क्योंकि जब जीवद्रव्य अशुद्धरूप प्रवृत्त हुआ तब उस अशुद्ध भावसे स्वयं ही व्याप्य-व्यापक हो रहा है । तीन कालमें अन्य द्रव्यको स्पर्श भी नहीं करता । यह द्रव्योंकी अनादि अनन्त मर्यादा बन्धी है । अथवा द्रव्य शुद्धरूप परिणमन करो या अशुद्धरूप परिणमन करो परन्तु अन्य द्रव्यको किसी भी प्रकार स्पर्श नहीं करता । ज्ञानी ज्ञान होने पर इसी भाँति देखता जानता है—यह (मर्यादा) इसी प्रकार है ।

हे मित्र ! तू भी ऐसी दृष्टिसे देखा कर । अन्य लोक, स्वांग, स्कंध, परज्ञेयद्रव्यका दोष न देख, न जान । परज्ञेयकी

सन्निधि निमित्त मात्र देखकर ' मेरा द्रव्य इन्होंने मलिन किया " इस प्रकार यह जीव स्वयं झूठा ही भ्रम करता है । परन्तु उन परज्ञेयोंसे तू कभी स्पर्शित भी नहीं हुआ । तथा तू उनका दोष देखता जानता है यह तेरी हरामजादगी है । इस कारणसे एक तूं ही झूठा है, उसका कुछ दोष नहीं । वह सदा सच्चा है ।

इस कारण हे मित्र ! अमूर्तिक संसार नाटकरूप तू ही नाचता है, वही तू स्वयंको देख-जान । तथा इस अशुद्ध अवस्थामें स्वयंको देखते ही-जानते ही तुझको अपनी निजजातिके नमूनेका देखना, जानना; तिष्ठना, आस्वादन होगा । तथा तब ही उन निर्मल परिणामोंसे परिणमित होने पर तेरे अशुद्ध परभाव हेय-नष्ट होते हैं । वह स्वभाव नमूना देखने-जाननेमय ही है । इस देखने-जानने द्वारा अपनेको ज्ञाता-दृष्टा देखा जाना । तथा उस देखने जाननेमें जीवको विश्राम आराम हुआ, स्वाद भोगा । वह जीवका निजस्वभावरूप कितनेक परिणामोंका लखाव (जानपना, अनुभव) होता है, वही जीवके स्वरूप स्वभावका नमूना है ।

हे मित्र ! सर्वका तात्पर्य यह है कि, जहाँ-अपना अशुद्ध द्रव्य देखा और अशुद्धतासे भिन्न स्वयंको देखा, वहां निज स्वभावके स्वादका उद्योत अवश्य होता है । ऐसा होने पर तू ही जानेगा और अशुद्धताके नष्ट करनेका तू ही उद्यम करेगा । तू इस प्रकार सदा देखा कर । ' अमूर्तिक चेतनभावसंसारसे एक जीव व्याप्य-व्यापक हैं ' यह अधिकार समाप्त हुआ ।

(३१) संसार कर्तृत्व अधिकार वर्णन

कोई इस प्रकार प्रश्न करता है कि गुणस्थान, मार्गणा, कर्मयोग आदि संसार है। वह संसार किसके परिणाममय है? वह कहिए। वही कथन दिखाते हैं?

देखो एक चन्द्रमा आकाशमें है, एक उसका निमित्त प्राप्त होने पर पानीकी स्वच्छताके विकाररूप चन्द्रमा है। तथा एक लाल रंग है और एक उसका निमित्त प्राप्त होने पर स्फटिककी स्वच्छताके विकाररूप लाली है। तथा एक मयुर स्कंध है और एक उसका निमित्त प्राप्त होने पर दर्पणकी स्वच्छताके विकाररूप मयुर है। उसी प्रकार एक गुणस्थान-मार्गणादि पुद्गलस्कंधरूप संसार है तथा एक उसका निमित्त प्राप्त होने पर जीवकी स्वच्छताके विकाररूप चेतना संसार है। तो यहां तुम न्याय द्वारा विचार करो कि चन्द्रमा, लालरंग, मोर, संसार किस परिणाममय वस्तुरूप उत्पन्न हुआ है? किन परिणामोंमें भावरूप उत्पन्न होता हैं? देखो, जो वे (असली) चन्द्रमा आदि विकारी हों तो उनके भी अन्य चन्द्रमा आदिका निमित्त हो, वह तो दिखाई नहीं देता। और यदि वे (असली) चन्द्रमा आदि विकारभावरूप हों तो उनका कोई विकारी स्वच्छस्थान भी दिखाई नहीं देता। और यदि वे (असली) चन्द्रमादि विकार हों, तो अन्य जलादिका विकार चन्द्रमादि विकाररूप होना मूलसे नास्ति हो जाय परन्तु ये जलादि विकार तो प्रत्यक्ष होते दिखाई देते हैं।

तथा जो इस प्रकार कहें, 'वे चन्द्रमा आदि जलादिमें प्रवेश करके तिष्ठ रहे हैं', परन्तु वे तो इन जलादिमें

परमाणुमात्र भी प्रवेशकर व्याप्त होते नहीं दिखाई देते हैं। तथा जो इस प्रकार कहते हैं कि जलादिमें चन्द्रमादि विकाररूप उन चन्द्रमा आदि निमित्तके बिना ही होते हैं। स्थितिके आधीन मात्र देखते हैं। अतः यहाँ यह भी देखते हैं कि जो वे चन्द्रमादि कभी नष्ट होते हैं (छुपते हैं); तो उनके नष्ट हो जाने पर यहाँ भी कुछ वस्तु रह जाती नहीं दिखाई देती। उनका नाश (छिपना) वह वस्तु (प्रतिबिम्ब) हीका नाश है। इससे तो यह निर्णय हुआ कि वे (असली) चन्द्रमादि वस्तुअंग परिणाममय हैं वह वस्तु ही है। तथा जलादि विकाररूप चन्द्रमादि नाश होते जलादि स्वच्छता परिणाम प्रत्यक्ष रह जाता है। अतः यह प्रत्यक्ष है कि जलादिकी स्वच्छता वस्तु है परन्तु उस (असली) चन्द्रमादिरूपके अनुसार जलादि स्वच्छता परिणामने भी स्वयंको चन्द्रमादि स्वांग बना लिया है। उन स्वच्छता परिणामोंने भी उन चन्द्रमादि वस्तुमयके रूपोंकी कूट (–आकार) बनाया है। परन्तु यह कूटकी कर्त्ता तो यह स्वच्छता वस्तुअंग परिणाममय है। तथा स्वच्छता परिणामों द्वारा रचित चन्द्रमादिरूप कूट है सो कूट स्वांगभाव है परन्तु वह कूट (स्वच्छता) परिणाम (मूलभूत वस्तु) नहीं है; वह कूट तो परिणामोंका स्वांग है। अतः इस तरह निर्णय करनेसे निश्चय हुआ कि जलादिके स्वच्छता परिणामोमें ही जो चन्द्रमादि स्वरूप बना है वह रूप अवस्तु है, अपरिणाम (मूलतः वस्तु नहीं) है। हे भव्य! निर्णय कर तो जैसीकी तैसी बात निश्चय होगी। वह तुमने देखी। अब उससे निःसंदेह जानना—

गुणस्थान, मार्गणा, कर्म, योगबन्ध, कषायबन्ध, आस्रव, संयम, असंयम आदि जितना भी संसार वस्तु अंश परिणाममय

है, वह सर्व केवल पौद्गलिक द्रव्यमय जानना । तथा भावसंसार होनेकी ऐसी विधि है, उसे तू सुन ।

इस जीवके उपयोगरूपमय स्वच्छता परिणाम है । उस परिणामोंमें देखने–जाननेके स्वभावके कारण सर्वपरज्ञेय दृश्यके आकार होते हैं । ऐसा वस्तुस्वभाव है, उपयोगकी सदा ऐसी रीति है । अतः इस एक जीवमें निश्चयसे पर भी है, स्व भी है । परदृश्यरूप ज्ञान–दर्शनके आकारसे केवल एक आकार–वह आकार तो पर है तथा देखने जाननेरूप जितना स्व है ।

देखो ! स्वर–पर निश्चयसे इस जीवमें है, प्रगटरूपसे भी इस जीवमें है । ठीकरूप–स्थिररूप आचरण गुण है, वह आचरणगुण किसी ज्ञेयरूप पुद्गलस्कंधोंके संसार निमित्तकालसे मात्र एक (जो) उन आकाररूपोंमें प्रवर्तता है तथा कभी केवलज्ञानदर्शनरूपमें प्रवर्तता है । जब आचरण गुण उस एक केवल आकारसे प्रवर्तता है उस कालमें तो जीवद्रव्य अज्ञान, दुखादि अशुद्ध होता है और जब आचरणगुण आकारोंको छोड़कर केवल एक ज्ञानदर्शनरूप प्रवर्तता है तब केवल ज्ञान सुखादि, सुख, शुद्धतासे जीवद्रव्य शुद्ध होता है । यह आचरणकी रीति है ।

अतः हे भव्य ! तू इधर देख, यह आचरण गुण जब मात्र उन आकारोंमें प्रवृत्त हुआ, वहीं जीवको पर स्वांग रचना उत्पन्न हुई–पर विकार उत्पन्न हुआ । इस प्रकार जीव परिणाम स्वयंको परभाव स्वांग बना लेता है । वह सर्व भाव संसार है । वह भावसंसार केवल जीवका जानना । अन्य

परिणाममय संसारसे एक पुद्गल व्याप्य-व्यापक और भावसंसारसे एक जीव व्याप्य-व्यापक हो रहा है।

तथा एक बात जानना-पुद्गल परिणाममय रूपों द्वारा संसारका कर्त्तादि होता है तथा जीव परिणामरूपों द्वारा संसारका कर्त्ता नहीं होता है। इस जीवको व्याप्य-व्यापकपनेसे भावसंसारका कर्त्तादि कहनेमें आता है। यहाँ यह जीव व्याप्य-व्यापकपनेसे मात्र भावसंसारका ही कर्तादि जानना। पुद्गल द्रव्य अपने परिणामोंरूप ही संसारका कर्त्ता होता है, परिणाम पिंड द्वारा संसारका कर्त्ता है। यह जीवद्रव्य अपने परिणामोंके भावोंरूप संसारका कर्त्ता होता है तथा जीव परिणामोंकी अपेक्षासे सदा, त्रिकाल, शुद्ध एक चेतनमय परिणाम उत्पन्न करनेका कर्ता रहता है। तथा जीवद्रव्यके द्वारा उत्पन्न जो मात्र चेतनमय परिणाम है, उन परिणामोंने ही स्वयंमें संसारभाव अशुद्धभावरूप रचना की है अतः जीवके परिणाम संसारभाव अशुद्धभावके कर्त्ता होते हैं परंतु यह निःसंदेह है कि जीवद्रव्य निश्चयनयसे कभी कर्त्ता नहीं होता है। जीवके परिणाम उस संसारके कर्त्ता हुए हैं वे परिणाम इसी जीवद्रव्यके हैं, इसलिये व्यवहारनयसे जीवद्रव्यको भी कर्त्ता कहते हैं।

तथा जीव परिणाम उस अशुद्ध संसारभावसे व्याप्य-व्यापक हुए हैं, अतः उन परिणामोंको निश्चयसे अशुद्धभावके कर्त्ता कहते हैं। तथा अशुद्धनिश्चयसे द्रव्यको संसारका कर्त्ता कहे तो भी कोई दूषण नहीं है। परन्तु ज्ञानदृष्टिमें जीवद्रव्य संसारका सदा अकर्त्ता दिखलाई देता है।

यहाँ एक दृष्टांत जानना—जैसे माणेक स्वयं लाल

परिणाममय उत्पन्न हुआ अतः वह मणि लाल परिणाममयका कर्त्ता है। उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य पुद्गल परिणाममय संसारका कर्त्ता है तथा उस माणेकका निमित्त प्राप्त कर स्फटिक शिलामें विकारकी लालिमा उत्पन्न हुई; उस शिलामें उस लालिमा-भावका कर्त्ता प्रत्यक्ष, उस शिलाका स्वच्छ परिणाम है, वह स्फटिक द्रव्य नहीं है। वह स्फटिक द्रव्य तो लालिमाके परिणामका अकर्त्ता है। तथा यदि द्रव्य उस लालिमाको परिणामों द्वारा करे तो वह लालिमा उस स्फटिककी स्वच्छताके समान हो जाय अर्थात् वह लालिमा उस स्फटिकका गुण हो जाय। जब गुण हो जाय तब नष्ट नहीं होगा, (उसको अर्थात् लालीको गुणरूप माना जाय तो वह) विकाररूप नहीं ठहरेगा, ऐसा अनर्थ उत्पन्न होगा। अतः यह प्रत्यक्ष है—स्फटिक द्रव्य लालिमाका कर्त्ता नहीं है, उसका स्वच्छता परिणाम निश्चयसे कर्त्ता है। परन्तु व्यवहारसे स्फटिक लालिमाका कर्त्ता कहा जाता है क्योंकि वह स्वच्छता उसकी है। इसी प्रकार जीवको जानना। अन्तर यही है कि स्वच्छता परिणामोंके स्थान पर चेतनपरिणाम और स्फटिक द्रव्यके स्थान पर जीवद्रव्य लगाना। इस प्रकार यह जीव परिणामों द्वारा भावसंसारका कर्त्ता होता है अतः इसको भावसंसार जानना।

मित्र! यहाँ एक बात और जानना। जीवके परिणामोंकी जिस-जिस काल जैसी-जैसी अवस्था होती है वही एक अवस्था जीवद्रव्यके होती है। परिणाम-अवस्था विना इस द्रव्यके अवस्था होनेका कोई मार्ग नहीं है। अतः अन्य अवस्था परिणाम विना किस प्रकार हो? जिस काल परिणाम बाह्य अंतर, शुद्ध, अशुद्ध अथवा मिश्र उन परिणामोंमेंसे कोई अवस्था धारण करे, उस काल द्रव्यको ही एक अवस्था निःसंदेह

होती है । उस काल द्रव्यको उसी दशाका स्वाद है । इति संसार कर्तृत्वाधिकारः ।

(३२) अनुभव वर्णन

इस पौद्गलिक कर्म द्वारा पांच इन्द्रिय छट्ठे मनरूप बने हुए संज्ञी देह, उस देहमें उसके प्रमाण जीवद्रव्य स्थित है उस जीवद्रव्यको भी इन्द्रियमन नामसे कहा जाता है । उसका नाम भावइन्द्रिय–भावमन है और वहां उपयोगपरिणाममें भी छह प्रकारका भेद हो रहा है । एक उपयोगपरिणामभेद पुद्गल स्पर्शगुणको देखता–जानता है, एक उपयोगपरिणामभेद पुद्गलके रसगुणको देखता जानता है, एक उपयोग परिणामभेद पुद्गलके वर्णगुणको देखता जानता है, एक उपयोगपरिणामभेद पौद्गलिक शब्दस्कंधको देखता है जानता है और एक उपयोगपरिणामभेद अतीत–अनागत–वर्तमान, मूर्तिक–अमूर्तिक चिंता-विचार-स्मरणादि विकल्परूप देखता जानता है; इस प्रकार उपयोगपरिणामभेद हो रहा है । तथा उपयोगपरिणामके भेद जो पुद्गलके स्पर्श, रस गन्ध, वर्ण, शब्द ज्ञेयोंमें एक एकके बाद दूसरे दूसरेको देखने जाननेको एक एक उपयोगपरिणामभेद है । इस प्रकार राजा इन्द्र (राजा इन्द्रवत् आत्माके) उपयोगके भेद हो रहे हैं अतः उन उपयोगपरिणामभेदोंको इस भावसे इन्द्रिय, संज्ञा द्वारा कहा जाता है तथा उपयोगपरिणामके विकल्प, विचार, चिंतारूप मनन होता है, और उसके होनेसे उस उपयोगपरिणाम भेदको मन संज्ञा द्वारा कहा जाता है ।

अब इनको एक ज्ञानका नाम लेकर कथन करता हूँ, 'ज्ञान' कहनेसे दर्शनादि सर्व गुण समाविष्ट हो गये, अतः ज्ञानका कथन करता हूँ—

देखो संत ! इन मन इन्द्रियके भेदोंके ज्ञानकी पर्यायका नाम मतिसंज्ञा है और भी उस मनभेदके ज्ञान द्वारा अर्थसे अर्थान्तर विशेष जाने इस जाननेकी श्रुति संज्ञा है । ज्ञानकी मति और श्रुति, दोनों पर्यायें विपरीतरूप और सम्यक्रूप होती हैं । उसीका विवरण करता हूँ—

तूँ यहाँ देख ! यह जीव जब तक मिथ्यात्वी रहता है तब तक यह मति, श्रुति. कुरूप होते हैं अर्थात् कुमति, कुश्रुति कहलाते हैं । तथा जब यह जीव सम्यक्त्वी होता है तब यह मति, श्रुति, सम्यक्मति, सम्यक् श्रुतिरूप होते हैं । वह कुरूपता किस प्रकार प्रवर्तती है और सम्यक्रूपता किस प्रकार प्रवर्तती है । उसका विवरण तूँ सुन—

हे सन्त ! कुरूपता–बुरी, सम्यक्ता–भली, क्रमशः मिथ्यात्वी जीवके और सम्यक्त्वी जीवके है । मति, श्रुत पर्याय तो दोनोंके एक समान है । इस कुरूपता और उस सम्यग्रूपताका क्या भेद है, वह सुन—

हे सन्त ! तू देख, मिथ्यात्वीके मति–श्रुतरूप द्वारा जो कुछ जानना है, उसको जाननेमें स्व-पर व्यापक–अव्यापककी जातिका भेद नहीं है । उस ज्ञेयको अपनेरूप देखे अथवा कुछ देखता ही नहीं । यह उस मिथ्यात्वीके मति श्रुतरूप जाननेमें कुरूपता है । तथा वह सम्यग्दृष्टि मति–श्रुतरूप द्वारा जो कुछ परज्ञेयको जानता है, उस जाननेमें परज्ञेयको परज्ञेयका ही भेद है तथा जाननारूप स्वका ही भेद है । ऐसा वह सम्यक्ज्ञान द्वारा समझता है । तथा जो चारित्र उस परज्ञेयको अवलम्बन करता है और उस परज्ञेयका स्वाद भी भोगता है तो उस चारित्र विकारको भी देखता है, यह उस सम्यग्दृष्टिके मति–श्रुतमें सम्यक्रूप है ।

तथा यह सम्यक्त्वता सविकल्प निर्विकल्परूपसे दो प्रकार है। (१) जघन्य ज्ञानी जब उस परज्ञेयको अव्यापक पररूपत्व जानता है, आपको जाननरूप व्यापक जानता है वह सविकल्प सम्यक्त्वता है। (२) जाननरूप आप आपको ही व्याप्य-व्यापक जानता रहे, वह निर्विकल्प सम्यक्त्वता है। तथा युगपत् एक बार एक ही समयमें स्वको सर्वस्व कर सर्वथा देखता है और सर्व परज्ञेयोंको सर्वदा पररूप देखता है; तब चारित्र परम शुद्धरूप है। उस सम्यक्त्वको सर्वथा-परम-सम्यक्त्वता कहा जाता है, वह केवलदर्शन-ज्ञान-पर्यायमें पाया जाता है। तो इस मति श्रुति-आदिकोंकी जाननदृष्टि युगपत् क्यों नहीं है, उसका क्या कारण है? उसका कारण तूँ सुन—

हे संत! मति-श्रुति आदि ज्ञान प्रयुक्त होने रूप है। जिधर जिस ज्ञेय प्रति प्रयुक्त हो तब उस कालमें स्वज्ञेयको अथवा परज्ञेयको काकगोलक न्यायसे अथवा युगल नेत्रदृष्टि न्यायसे देखता है और उसका भी विवरण—

स्वज्ञेय अथवा परज्ञेय प्रति प्रयुक्त होते हुए भी वे मतिश्रुतज्ञानसे एक अंशके भेदको जानते हैं, फिर वहांसे हटकर अन्य ज्ञेयभावके प्रति प्रयुक्त हो, तब उसको जानते हैं। उसके उदाहरण जब जीव द्रव्यत्व जाननेको प्रयुक्त हो तब, द्रव्यत्व सामान्यको ही जानता है और जो, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भेदोंको जाननेके लिये प्रयुक्त हो तब उन भेदरूपोंको जानता है तथा उन भेदोंमें भी जब एक उत्पाद भावका जानता है तब व्यय ध्रौव्यके भेद भावोंको नहीं जानता जब गुणरूपको जानता है तब द्रव्यरूपको नहीं जानता है। जब पर्यायरूपको जानता है, तब गुणरूपको नहीं जानता। जब ज्ञानका रूप जानता है, तब

चेतना वस्तुत्वको नहीं जानता है। जब चेतना वस्तुत्वको जानता है, तब ज्ञानगुणको नहीं जानता है। तथा जब ज्ञानगुणकी मतिरूप पर्यायको जानता है, तब ज्ञानकी अन्य पर्यायोंको नहीं जानता है। जब स्ववस्तुको जानता है, तब पररूपको नहीं जानता है। तथा इसी प्रकार जब पुद्गलद्रव्यत्वको जानता है तब पुद्गलगुणको नहीं जानता है। जब वर्णगुणके रूपको जानता है, तब रसादि गुणोंके रूपोंको नहीं जानता है। जब रसगुणको जानता है, तब वर्णादि गुणको नहीं जानता है। तथा जब मिष्टरसको जानता है, तब अन्य रसको नहीं जानता है। इस प्रकार सर्वका तात्पर्य यह है कि जघन्य ज्ञान जिधरको, जिस ज्ञेयभाव प्रति प्रयुक्त होता है उस काल उसीको तावन्मात्र (उतना ही) एक ज्ञेयभावको जानता है। उसके दूसरे भाव प्रति जब प्रयुक्त होता है, तभी जानता है, उस ज्ञेय प्रति प्रयुक्त हुए बिना नहीं जानता।

परंतु एक बात और है—मिथ्यात्वीके भी इसी प्रकार जघन्य ज्ञानहीका जानना है तथा इसी प्रकार जघन्य ज्ञानहीका जानना सम्यग्दृष्टिके होता है परन्तु भेद इतना है—मिथ्यात्वी जितना भी भाव जानता है, उतना ही अयथार्थरूप अजातिभेद साधता है, तथा उसी भावको सम्यग्दृष्टि जानता है, उतना ही यथार्थरूप जातिभेद साधता है। इस प्रकार जघन्य ज्ञान प्रयुक्त होनेरूप इतना ही अन्तर है। और कैसा है?

जघन्य ज्ञान जाननेको जब जिस ज्ञेय प्रति प्रयुक्त होता है, तब उसी ज्ञेयके प्रति क्रमसे जाननेरूप प्रवृत्त होता है। उसी ज्ञेयको पहिले थोड़ासा साधता है फिर उसको उससे कुछ अधिक साधता है, फिर उससे अधिक साधता है, इस प्रकार उस एक ज्ञेयको कुछ कालमें संपूर्ण साध लेता है। इस प्रकार

जघन्य ज्ञान क्रमवर्ती है अथवा एक ज्ञेयको एक कालमें जानता है, फिर दूसरे कालमें दूसरे ज्ञेयको जानता है, इस प्रकार क्रमवर्ती जानना । और यह जघन्य ज्ञान कैसे है ?

कतिपय है, सर्व ज्ञेयोमेंसे कतिपय ज्ञेयोको जान सकता है अथवा कुछ चेतन शक्तियों द्वारा जान सकता है तथा एक द्रव्यके कुछ भावोंको जान सकता है, सर्वथा सर्व नहीं जान सकता, इससे कतिपय है । जघन्य ज्ञान भी कैसे है—जघन्य ज्ञान भी कैसे जघन्य ज्ञान है ?

यह जघन्य ज्ञान साधनेको स्थूलकाल प्रवर्तता है । जब किसी एक ज्ञेयको जानने द्वारा साधन करता है, तब जघन्य, मध्यम अथवा उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्तकाल पर्यन्त साधन करता है; इस प्रकार ज्ञेय साधनेको स्थूलकालपर्याय है । तथा यह जघन्यज्ञान लघुकाल स्थायी है । जो ज्ञेयभाव जानकर सिद्ध किया है, यदि फिर उस सिद्ध ज्ञेयको जानता रहे तो जघन्य, मध्यम अथवा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्तकाल तक जाना करता है । फिर वहांसे छूटकर अन्य ज्ञेयभाव प्रति प्रवर्तता है, इसलिये जघन्यज्ञान लघुकालस्थायी है । और यह जघन्यज्ञान क्षायोपशमिकज्ञान शक्ति है । इस प्रकार जघन्यज्ञानमें तो जानना होता है ।

किन्तु अप्रयुक्त, एक समयमें सर्वथा, सर्वको. युगपत् जाननेवाला, अनन्तकाल तक रहनेवाला क्षायिकरूप केवलज्ञान है । अतः इस केवलज्ञान पर्यायमें सर्वथा परम सम्यक्ता होती है । हे भव्य ! इसप्रकार मति-श्रुतादि ज्ञान पर्यायोंका स्वरूप कहा और उस ज्ञानमें सम्यक्ता भी प्रवर्तती हुई कही । वह सम्यक्ता दो प्रकार है, उसे दिखाते हैं—

सम्यग्दृष्टिके इन्द्रिय–मन नामक उपयोगपरिणामभावकी

सम्यक्ता तो सविकल्परूप है और उसको तू देख–वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, ज्ञेयों प्रति एक जानन–देखनरूप उपयोग-परिणाम परिणमित होते हैं, उस जानने–देखनेकी एक इन्द्रिय संज्ञा है। उसे अब भिन्न–भिन्न इन्द्रियके नामसे कहते हैं—

सम्यग्दृष्टि इन्द्रिय नाम उपयोगपरिणामों द्वारा जब जब जिस–जिस ज्ञेयको देखता–जानता है, तब–तब वे उपयोग परिणाम यथार्थ स्ववस्तुका लक्ष लिये हुए हैं। वे उपयोगपरिणाम तथा चिंता, विचार, स्मरणरूप विषयभोग, संयोग–वियोग, स्नेह, सुख-दुःख, कषायादि अशुद्ध परिणतिके द्रव्य, गुण, पर्यायः स्व–परके भेद–अभेद आदिरूप सर्व शास्त्र, सर्व विकथाशास्त्र सर्व स्वपरकी अतीत, अनागत, वर्तमान अवस्थाओंकी चिंता, विचार, स्मरण, विकल्प कल्लोलरूप उपयोगोंके जानने–देखनेके लिये जो परिणाम परिणमित हुए, उन परिणामोंके देखने–जाननेको मनसंज्ञा धारण की। अब इन्हींको मन नामसे कहते हैं। इस सम्यग्दृष्टिके मन नामक उपयोग परिणाम हैं उन परिणामों द्वारा जब–जब जो–जो चिंता, विचार, स्मरणरूप देखते हैं, जानते हैं, तब–तब वे उपयोग परिणाम यथार्थ स्ववस्तुका लक्ष लिये होते हैं। देखो, ऐसे इन्द्रियसंज्ञापरिणामों और मनसंज्ञापरिणामोंमें उपयोगोंकी सम्यक्ता सविकल्परूप है। इस सम्यक्तासे भी आस्रव और बन्ध नहीं होते। अब निर्विकल्प दशा कहता हूँ, श्रवण कर—

देखो, जो चारित्राचरण है उस चारित्रके जो परिणाम वर्णादिकको आचरते हैं–अवलंबन करते हैं, उन चारित्र परिणामोंको भी इन्द्रिय आचरणसंज्ञासे कहा जाता है। तथा आचरणजन्य स्वाद, उस स्वादको भी इन्द्रियस्वाद संज्ञासे कहा

जाता है तथा स्वभाव वस्तुमात्रसे अन्य सर्व विकल्प उन विकल्पोंको जो चारित्रपरिणाम आचरण करे—अवलंबन करे उन परिणामोंको मनाचरणसंज्ञासे कहा जाता है। उस आचरणजन्य स्वादको भी मनसंज्ञासे कहा जाता है। इस प्रकार मन-इन्द्रियसंज्ञा धारक आचरण और स्वाद परिणाम उस सम्यग्दृष्टिके मन-इन्द्रियसंज्ञक सम्यक् उपयोग परिणामोंके साथ है। परन्तु उस सम्यग्दृष्टिके उन मन-इन्द्रियसंज्ञाधारी अशुद्ध चारित्र परिणामोंसे आस्रव-बन्ध नहीं होता। वह किसका गुण है? (किसकी विशेषता है?)

उस सम्यग्दृष्टिसे मनइन्द्रियसंज्ञाधारी अशुद्ध चारित्र-परिणामोंको साधनेके लिये उपयोगोंके परिणाम सविकल्परूप सम्यक् ही हैं। अतः उन मन-इन्द्रियसंज्ञाधारी चारित्रके अशुद्धपरिणामोंसे आस्रव-बन्ध नहीं हो सकता। उन उपयोगोंके सम्यक्परिणामोंने बन्ध-आस्रवरूप उन अशुद्ध चारित्रपरिणामोंकी बन्धशक्ति कीलित कर दी है अर्थात् रोक दी है। अतः सम्यग्दृष्टि बुद्धिपूर्वक (-स्वामित्वके) आचरण अपेक्षा निरास्रव निर्बन्ध हुआ है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि मन-इन्द्रियसंज्ञाधारी सम्यक् उपयोगपरिणाम तथा मन-इन्द्रियसंज्ञाधारी अशुद्ध-चारित्रपरिणाम, इन दोनों परिणामोंका प्रवाह चल रहा है। अब इनकी निर्विकल्प दशाका होना दिखलाता हूँ—

जब उस सम्यग्दृष्टिके जो मन-इन्द्रियसंज्ञक उपयोग परिणाम हैं, उन परिणामोंको एक बाह्य-पर वर्णादि खण्ड खण्ड देखने-जाननेसे इन्द्रियसंज्ञा धारण की हुई थी। अब वे उपयोग परिणाम उन वर्णादिकको जाननेसे रुक गये, तब उन परिणामोंको इन्द्रिय-संज्ञा नहीं होती—इन्द्रिय संज्ञासे अतीत हो गये। तथा जिन उपयोग परिणामोंको विकल्प देखने-जाननेसे मनसंज्ञा

प्राप्त हुई थी, वे उपयोगपरिणाम भी तभी उन विकल्पोंके देखने जाननेसे रुक गये, तब उन उपयोगपरिणामोंको मनसंज्ञा नहीं होती वे परिणाम तब मनसंज्ञा अतीत होते हैं। इस प्रकार यह दोनों (उपयोगपरिणाम) इन्द्रियातीत और मनातीत हुए। तथा सर्व एक स्वयंहीको स्वयं चित् वस्तुरूप व्याप्य-व्यापकरूपसे प्रत्यक्ष आप ही देखने लगे-जानने लगे तब वे उपयोगपरिणाम प्रत्यक्ष और उस मनइन्द्रियभावसे शून्य हो गये। तथा तभी मन-इन्द्रिय संज्ञाधारी उपयोग दशाके बलसे साधित मन-इन्द्रियसंज्ञाधारी अशुद्धचारित्र चपल परिणाम उसी कालमें परावलम्बन और चपलता रहित हो गये। तब उन चारित्रपरिणामोंका मनइन्द्रिय संज्ञा नहीं होती. मन-इन्द्रियसंज्ञातीत परिणाम कहलाते हैं तथा वे चारित्रपरिणाम निज उपयोगमय चित्वस्तुमें स्थिरीभूत शुद्ध वीतरागमग्नरूप प्रवर्तते हैं, तथा निजका स्वाद उन्हीं चारित्रपरिणामोंसे उत्पन्न होता है।

इस प्रकार जब सम्यग्दृष्टिके ज्ञानदर्शनचारित्र सहित परिणाम निज चित् वस्तुहीको व्याप्य-व्यापकरूप देखते-जानते हुए तिष्ठत (स्थित) हुए निज व्याप्य-व्यापक स्वाद लेते हैं उस स्व स्वाददशाका नाम स्वानुभव है। इस प्रकार स्व अनुभव होने पर छद्मस्थ जीवके दर्शन-ज्ञानादि परिणामोंको निर्विकल्प-सम्यक्ता उत्पन्न होती है। वह जघन्य ज्ञानी सम्यग्दृष्टिके निर्विकल्प उपयोग सम्यक्ता जानना। यहाँ उस काल स्वसंवेदनका यह अर्थ जानना-स्व अर्थात् मैं-स्वयं ज्ञान सं-अर्थात् साक्षात् प्रत्यक्ष, वेदन अर्थात् इस वस्तुसे व्याप्य-व्यापकरूप जानना।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि होते ही उस जीवद्रव्यमें ज्ञानगुणकी शक्ति साक्षात् प्रत्यक्ष हो कर ऐसी प्रवर्तित हुई कि इस स्थानमें

यह "मैं ज्ञान इस आत्मवस्तु प्रमाण तादात्म्य व्याप्य–व्यापकरूप हूँ। इस ज्ञानशक्तिको जाननेका नाम स्वसंवेदन कहा जाता है। ज्ञानकी यह स्वसंवेदनशक्ति छद्मस्थके साक्षात् प्रत्यक्षरूप हो प्रवर्तती है। इस ज्ञानशक्तिकी प्रत्यक्षतासे केवली, श्रुतकेवली बराबर हैं, यह भेद भले प्रकार जानना।

इस प्रकार जघन्य सम्यग्दृष्टिके सम्यक्ता सविकल्प निर्विकल्पके भेदसे दो प्रकार होती है। अतः जघन्य सम्यक्दृष्टि इन दोनों सम्यक्ताओंसे निरास्रव–निर्बन्ध होता है। तथा जब ज्ञान–दर्शन–चारित्र परिणामोंसे स्व-स्वादरूप स्व–अनुभव होता है तब उन परिणामोंको निम्न नाम (संज्ञा) भाव द्वारा कहते हैं—निर्विकल्पदशा, आत्मसन्मुख उपयोग, भावमतिभावश्रुति, स्वसंवेदनभाव, स्ववस्तुमग्न, स्वाचरण, स्वस्थिरता, स्वविश्राम स्वसुख, इन्द्रिय–मनसंज्ञातीत भाव, शुद्धोपयोग ये सर्व संज्ञाभाव; अथवा उपचारसे इन्द्रियमन स्वरूपमें मग्न; इस प्रकार एक ही संज्ञासे कहते हैं। स्वानुभव आदि अनेक संज्ञाये हैं परन्तु एक स्व–स्वादरूप अनुभवदशा अथवा निर्विकल्पदशा मुख्य जानना। अब इस निर्विकल्पदशा रहनेका काल सुन—

जघन्य, मध्यम अथवा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक स्व–अनुभवरूप परिणाम प्रवाहित हो रहे हैं। अन्तर्मुहूर्त पश्चात् फिर परिणाम, मन–इन्द्रियसंज्ञक हो विकल्पी होकर, चारित्र (बुद्धिपूर्वक उपयोग अपेक्षा) परावलम्बी होता है, तब पर स्वाद आता है। उसी प्रकार वे सविकल्परूप भी हो जाते हैं। और कुछ काल पश्चात् उस सविकल्पभावसे रहित होकर पुनः परिणाम अनुभवरूप हो जाते हैं। पुनः अन्तर्मुहूर्त पश्चात् परिणाम सविकल्परूप भी धारण करे; पुनः कुछ काल पश्चात्

परिणाम सविकल्परूप छोड़कर अनुभवरूप होते हैं। जघन्य ज्ञानीके सम्यक्त्वाचरण धाराप्रवाही परिणामरूप प्रवर्तित होते हैं—उत्पन्न होते हैं, चारित्राचरण अनुभव धाराप्रवाही नहीं होता। जघन्य ज्ञानीके अनुभव कदाचित् होता है उसका एक विवरण—

चौथे गुणस्थानके सम्यग्दृष्टिके स्व-अनुभवका काल लघु अंतर्मुहूर्त तक रहता है और बहुत काल पश्चात् होता है। तथा उससे देशव्रतीका अनुभवमें रहनेका काल अन्तर्मुहूर्त बड़ा है और थोड़-थोड़े काल पश्चात् होता है। तथा सर्वविरतिके स्व-अनुभव दीर्घ अन्तर्मुहूर्त पर्यंत रहता है अथवा ध्यानसे भी होता है और बहुत थोड़े-थोड़े काल पश्चात् बार-बार स्व-अनुभव दशा हुआ ही करती है। तथा सातवें गुणस्थानसे जो परिणाम पूर्वमें स्व अनुभवरूप हुए थे वे तो अनुभवरूप तिष्ठे हैं, परन्तु तब मुख्यरूपसे कर्मधारासे निकल-निकलकर स्वरसस्वाद अनुभवरूप होते चले। ज्यों-ज्यों उत्तर-उत्तर कालमें आते हैं त्यों-त्यों और और परिणाम स्वादरसके अनुभवरूप बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार तहाँसे क्षीणमोहके अन्त तक परिणाम वृद्धि द्वारा अनुभवदशाका परिवर्तन होता जाता है। हे सविकल्पके आचरण वाले! तू एक बात सुन—

तूँ देख, इस परिणति वर्णन द्वारा परिणामोंका सविकल्प-निर्विकल्प स्व-अनुभव होना दिखलाया तो तूँ भी अपनी परिणति इस कथन अनुसार है कि नहीं? तुलना करके देख और यदि तू सम्यग्दृष्टि है और तूने अपनी परिणति इसीको अनुसार होती देखी है, तो हम एक बात और कहते हैं। वह क्या?

तू देख! यह स्व अनुभवदशा स्वसमयरूप स्वसुख है,

शांत विश्राम है, स्थिररूप है, कोई कल्याण है, *चैन है, तृप्तिरूप है, समभाव है और मुख्य मोक्षमार्ग है। तथा इस सम्यक् सविकल्प दशामें यद्यपि उपयोग निर्मल रहता है, तथापि अरे! चारित्रपरिणाम परावलम्ब अशुद्ध चंचलरूप होते हैं अतः सविकल्पदशा दुःख है, तृष्णाके तापसे चंचल है, पुण्य-पापरूप कलाप है, उद्वेगता है, असंतोषरूप है, चारित्र परिणाम ऐसे ऐसे विलापरूप हैं। ये दोनों अवस्था तूने अपनेमें देखी है। अतः भला तो यह है कि तू स्व-अनुभवरूप रहनेका उद्यम रखा कर, यह हमारा वचन विवरण द्वारा (व्यवहार) उपदेश कथन है। इति अनुभवाधिकार।

(३२) अथ अन्यत् किंचित् कथ्यते तावत् दृष्टांत

अब जो कुछ कहा जाता है उसे ही दिखलाते हैं:—

किसी देशमें एक पुरुष छत्तीस पवन (–नीच जातियोंकी) सेवा करता था और उन जातियोंको भी राजारूप जानता था, देखता था, सेवा करता था और याद रखता था। इसी प्रकार करते करते उस पुरुषकी अवस्था बहुत समय तक व्यतीत हुई। एक दिन उस पुरुषका किसी ज्ञातापुरुषके कहनेसे विचार उत्पन्न हुआ। तब उस ज्ञातापुरुषने यह कहा कि ये छत्तीस जातियां राजा नहीं हैं और ये राजाका नगर नहीं है। तू इनको राजाकी झूठी प्रतीति कर सेवा करता है। तू इनको झूठ ही राजा देखता–जानता है, परन्तु राजा नहीं है। ये तो नीच जाति है तथा इनको राजा मानकर तुम बहुत नीच हो गये हो तथा इनकी सेवासे तू सदा दरिद्री, दुखी, भिखारी

* चैन = निराकुलता

रहेगा और अनादिसे भिखारी रहा है । अतः तूँ अपनेको देख, उस राजाकी सेवासे राजा ही हो जायेगा । धनी, अयाचक, सुखी, निडर, उच्च शोभा आदि बहुत प्रभुता पुरुषकी होती है । इन जातियोंको तूँ राजा मानता है, तुझे अज्ञानसे यह भ्रम है । हम भी तेरी ही भाँति भ्रममें पड़ गये थे । फिर किसी समय जब प्रत्यक्ष राजा देखा, तब हमारा यह भ्रम नष्ट हो गया । ऐसी प्रभु होनेकी बात सुनते ही उस पुरुषको राजाके देखने–जानने–सेवनकी रुचि हुई । तब उस पुरुषने उस ज्ञाता पुरुषको पूछा—

हे ज्ञाता पुरुष ! वह राजा कहां है ? तथा किस प्रकार पहचान करें ? तथा किस प्रकार उसकी सेवा करें ? तथा वह मुझे भी प्रभु कैसे करेगा ? मुझको यह बात बताओ । क्योंकि तुने भी इस अवस्थाको बिताया है अतः तुम यह मूल बात–यह भेद बताओ । तब उस ज्ञातापुरुषने कहा—

मैं तो यह बात कहूँगा, परन्तु तूँ इसी भाँति उद्यमरूप होना । तूं उद्यमरूप होगा क्योंकि तेरी तीव्र रुचि दिखाई देती है । तूँ वह उपाय सुन—

मित्र ! अब तूँ पहले यहाँसे उद्यमवन्त हो, धीरजवन्त हो । पश्चात् इतनी बात मानकर इस देशको तू जान । इस देशमें पाँच नगर हैं धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल. जीव. ये पाँचोंके नाम हैं । पहले उन चार नगरोंका और उन नगरोंके लोकाचारोंका तू तमाशा भले ही देखना, उनकी रीति याद रखना, परन्तु वहां बैठ न रहना, क्योंकि तुझे राजाके पास जानेका काम है, इनका कुछ काम नहीं ।

नगर तुझे प्रभु नहीं कर सकेंगे । फिर वहाँसे आगे तू

उस जीव नगरको जाना । जब वह नगर तेरी दृष्टिमें आवेगा, तब पहले ईंट, मिट्टी, पत्थर, चूनेका बना कोट आयेगा । उसको तू भलीभांति देखकर फिर उसे छोड़कर आगे जाना । स्वयं आगे आठ-सात आदि अन्य लोक जातियोंकी एक स्थान पर वस्ती आयेगी । उस वस्तीको भले प्रकार देखना । फिर उन जातियोंकी भिन्न-भिन्न रीतिका तमाशा देखना । फिर उसको छोड़कर आगे चलना, वहां पहले जैसी आठ-सात आदि नामकी अन्य जातियोंकी वस्ती छोड़ आया था, वैसी जाति, कुल नामरूप रीतिधारी लोगोंकी एक स्थान पर बहुत बड़ी सभा आयेगी. वहां उन लोगोंकी बहुत भीड़ है । तथा उस सभाके सर्व राजा द्वारा राजा ही कहलाते हैं । और वहां सब राजा जैसी दीप्ति लिये हुए हैं । तू वहाँ सावधान और जागृत रहना । उन जातियोंको भले प्रकार पहचान लेना, उनके धक्के सहना, उनकी क्रूर दीप्ति देख मत डरना, उनसे निःशंक रहना और मनमें राजा देखनेकी रुचि रखना । परंतु उनको राजा-राजा कहनेसे तू इनके राजा होनेके भ्रममें मत पड़ना, राजा मानकर इनकी सेवामें न लग जाना, परंतु इनको भले प्रकार पहचानना, देखना । तू फिर इनको देखता और छोड़ता, देखता और छोड़ता आगेको चले जाना । जहां सभाके ये लोग पूर्ण हुए, इन सबको तू पीछे छोड़ गया, तब इनका तो भय नष्ट हुआ । आगे जहाँ सिंहासन, छत्र, चामर, मुकुट लक्षण आवेंगे, उन लक्षणोंको तू भले प्रकार देखना-जानना और याद रखना ! इस प्रकार इनको जान कर फिर उन मुकुटादि लक्षणोंसे संयुक्त परमदीप्ति, सुन्दर सौम्यादि मूर्ति जो पुरुष बैठा है, तू उसे ही राजा देखना, जानना । फिर तभी उसी राजाके लक्षण, सूरत और मूर्तिकी स्मृति हृदयमें

रख लेना क्योंकि उस स्मृति—धारणासे अन्य पुरुषको भी देखकर उसके प्रति राजाकी शंका कभी भी उत्पन्न नहीं होगी। इस प्रकार तू जब राजापुरुषको दिखेगा तब देखते ही तुझे अपूर्व परमानन्द आयेगा और किसी अपूर्व पुरुषको तू देखेगा। और उस राजा पुरुषके देखते ही तेरे मनमें कोई उमंग उठेगी तथा तू देखते ही उसमें मग्न हो जायेगा।

तू ही वहांकी रीति देखेगा, मेरे कहनेसे क्या है? और उस राजाकी सेवा इतनी ही है कि उसके सन्मुख मग्न रहना, इधर-उधर न होना (उपयोगको सुनिश्चल रखना) फिर वहांसे तू कुछ काल पश्चात् हट जायेगा, तब फिर वैसा ही होना। फिर कुछ काल पश्चात् वहांसे तू छूट जायेगा और फिर उन्हीं पुराने लोगोंके बीच आवेगा वहां फिर तू उन्हीं लोगोंकी सेवा करेगा, उस सेवासे सुखी-दुःखी भी होगा, परन्तु उन लोगोंको तू अब राजाके रूपमें न तो देखेगा, न जानेगा। अब उनको उस राजाकी प्रजा ही जानेगा और देखेगा क्योंकि यद्यपि उस काल प्रत्यक्ष राजाको देखता जानता नहीं परन्तु तूने राजाके लक्षण द्वारा राजाकी सूरत ठीक याद कर ली है, राजाकी सूरत याद रहती है अतः अब उन लोगोंको राजा नहीं देखता है, लोगोंको लोगरूप ही देखता है, राजाका भ्रम उत्पन्न नहीं होता।

तथा राजाकी सेवाका जो सुख लिया वैसा सुख अब इन लोगोंकी सेवामें नहीं देखता है। तथा उनकी सेवा करनी बहुत बुरी लगती है, अतः उसे आगे भी बुरी देखा-जाना करेगा। मनमें ऐसा चिंतन करेगा कि इस सेवा सम्बन्धसे मेरे कब विपत्ति नहीं रही? अर्थात् उनसे तो आज तक मुझे

आपत्ति ही रही है । तथा तबसे तू उन लोगोंको राजा सम्बन्धसे देखने-जाननेसे रुक गया । परन्तु उनकी कोई सेवा करनी रह गई है, इस प्रकार तू उन लोगोंमें विचार करना, परंतु मनमें राजा ही की सेवाकी रुचि रहेगी । तथा फिर उनकी सेवा छोड़कर अब शीघ्रतासे उसी राजाकी सेवा करने लग जाएगा । फिर राजाकी सेवा छूट जाएगी, फिर इन लोगोंकी सेवा करने लग जाएगा । तथा फिर यह सेवा छोड़ेगा, राजाकी सेवा करेगा, इसी प्रकार होते होते कुछ काल पश्चात् उसी राजाकी सेवामें रह जायेगा । सर्व तात्पर्य यह है कि तब तू ही राजा होकर रहेगा । कुछ कालमें उस राजाकी सेवासे तुझे ऐसी राजाकी प्रभुता होगी । तब उस पुरुषने यह कथा सुनकर और उसी प्रकारकी रीति करनेसे वह स्वयं राजा भी बन गया । इति दृष्टान्तः । दाष्टान्त इस प्रकार है ।

इस जीवके परिणाम हैं वे परिणाम अन्य परिभावोंका अवलंबन, सेवा करते हैं । तब उन परभावोंका सेवन करते परिणाम उन परभावोंको निजस्वभावरूप देखते हैं, जानते हैं, सेवा करते हैं तथा उन परको निजस्वरूप रूप प्रतीति करते हैं । इसी इसी प्रकार अनादिसे करते हुए इस जीवके परिणामोंकी अवस्था बहुत काल तक व्यतीत हुई । फिर काल प्राप्त कर भव्यता परिपाक हुई, तब आप ही अथवा अन्य ज्ञाता गुरुके उपदेशका कारण प्राप्त किया, उन गुरुने उपदेश दिया—

हे भव्य परिणामों ! तुम पर-हीन की सेवा करते हो और हे परिणामों ! परकी सेवा करते हुए इन नीच परको तुम उच्च स्व मानकर देखते हो, जानते हो, और स्वरूपकी भांति याद ठीक रखते हो, परन्तु हे भव्य परिणामों ! यह पर नीच है, स्व-उच्चत्व नहीं है तथा यह तुम्हारा वस्तु

आधार नहीं है । तथा इन नीचोंके सेवनसे तुम भी नीच जैसे पर ही हो रहे हो, तथा इन पर नीचोंकी सेवा करते-करते दुःख, उपाधि, दारिद्र्य सदा पाते रहे हो । ये तुमको रंचमात्र भी कुछ दे सकते नहीं हैं । तथा तुम झूठे ही 'ये ही हमको देते हैं' ऐसे मान रहे हो । ये तो पर और नीच हैं परन्तु तुम इनको स्व-उच्चत्व मानकर बहुत नीच हो गये हो ।

हे भव्य परिणामों ! जो कोई स्व-उच्च है उसको तुमने न कभी देखा है, न जाना है और न सेवन किया है । अतः तुम उसको याद कैसे रखो ?

तथा अब उस स्वभावको देखो, जानो और सेवा करो । तब तुमको आप ही याद रहेगा, तो तुम सुखी हो जाओगे, अयाचीक (बिना मांगे) लक्षपति हो जाओगे और अपनी लक्ष्मीसे प्रभु हो जाओगे । इस प्रकार उन भव्य परिणामोंने सुनकर और उन्हें उस निजस्वभावको देखने, जानने, सेवन करनेकी अपूर्व महारुचि उत्पन्न हुई । तथा तब ही उन परिणामोंने उसको पूछा—उस निजस्वभावको किस प्रकार प्राप्त करें, कौनसा स्थान है ? वह सब रीति कहो । तब उस ज्ञातागुरुने यथार्थ मार्ग और स्थान आदि पहचाननेकी यथार्थ जैसीकी तैसी रीतिका कथन किया । तब वह रीति याद रखकर वे परिणाम (अपने) स्वभावको देखने, जानने, सेवन करनेको उद्यमपूर्वक चलते हैं । वही कहते हैं—

पहले तो इन परिणामोंने छह द्रव्योंकी संख्या देखी । पश्चात् अवगाह कारण एक आकाशद्रव्यको गुणपर्यायादि लक्षणो द्वारा भिन्न देखा परन्तु उसमें स्वभाव राजाका कोई लक्षण नहीं देखा । अतः उस आकाशद्रव्यको छोड़ आगे धर्मद्रव्य,

गतिकारणरूप गुण-पर्यायादि लक्षणों द्वारा भिन्न देखा । परन्तु उसमें भी स्वभावराजाका कोई लक्षण नहीं देखा । अतः उस धर्मद्रव्यको भी छोड़कर आगे अधर्मद्रव्य स्थितिकारण गुणपर्यायादि लक्षणों द्वारा भिन्न देखा । परन्तु उसमें भी स्वभावराजाका कोई लक्षण नहीं देखा । अतः उस अधर्मनगरको भी छोड़कर और आगे कालद्रव्य वर्तनाकारण गुणपर्यायादि लक्षणों द्वारा भिन्न देखा । परन्तु उसमें भी स्वभावराजाका कोई लक्षण नहीं देखा । अतः उस कालद्रव्यको भी छोड़कर आगे पुद्गलद्रव्य वर्णादि गुणपर्याय लक्षणों द्वारा भिन्न देखा । परन्तु उसमें भी स्वभावराजाका कोई लक्षण नहीं देखा । अतः उस पुद्गल द्रव्यको भी छोड़ दिया ।

इस प्रकार उन परिणामोंने ये पाँच द्रव्य तो देखे परन्तु स्वभावराजाका नाममात्र भी नहीं देखा अतः इनका छोड़ दिये । आगे ये जीव संज्ञक द्रव्यनगरके समीप आ पहुंचे । वहां इन परिणामोंने कोटरूप नोकर्मस्कंध देखा, वह सर्व निःसंदेह पुद्गलद्रव्यका बना हुआ देखा । उसमें तो स्वभावका कोई भी लक्षण नहीं है । अतः इस नोकर्मको छोड़कर उसके भीतर परिणाम आये । वहां आठ कर्म व नवतत्त्व देखे । कार्माण स्कंधकी मण्डली बस्ती है । उस बस्तीमें देखा कि केवल पुद्गलद्रव्यकी सर्व जाति निवास करती है और उन्हींका परस्पर लेना-देना, सम्बन्ध सगाई, लड़ाई, प्रीति (आदिरूप) क्रिया होती है । इस प्रकार उस बस्तीमें भी निसंदेह स्वभावका कोई अंग नहीं देखा । अतः उस कर्मादि पुद्गलजाति बस्तीको छोड़कर ये परिणाम आगे गये । वहां देखा कि जैसे पीछे कर्मादि पुद्गलजातियोंके नाम थे, उन्हीं-उन्हीं जातियोंके नामधारक चेतनपरिणामभावोंकी बस्ती है परन्तु वे भाव

(अशुद्धिरूप भावकर्म) जाति सर्व चेतन परिणामोंकी है अतः वे सर्व चेतन ही चेतन नाम धारक हो रहे हैं, सर्व उस चेतन जैसी भाषाको लिये हुए हैं । ऐसी जीव परिणामभावोंकी जाति देखी । जो सावधान होकर देखें तो इन भावोंमें [तो] स्वभाव नहीं है, वह तो परके अनुरूप भाव हैं । अतः इन परिणामोंने परभावोंको भी अपनी शक्ति द्वारा पृथक् किये । उनको पृथक् करते ही उन परिणामोंने ज्ञाता-दृष्टादि लक्षणमय चेतनस्वभावको प्रत्यक्ष साक्षात् देखा-जाना । उस स्वभावके सन्मुख स्थिरीभूत हुए, वहाँ विश्राम लिया । उन परिणामोंको विश्राम लेने पर अपूर्व सुख उत्पन्न हुआ । स्वभावको प्राप्त हुए, वे परिणाम आकुलतासे शांत हुए; चैनरूप (निराकुल) हुए, बहुत अपूर्व शोभावन्त हुए और प्रभुतारूपको उद्यत हुए ।

सर्व तात्पर्य यह है कि उन परिणामोंकी कथा वचन द्वारा कहां तक कहें ? इस प्रकार ये परिणामस्वभावको प्राप्त हुए कुछ काल तक रहे । फिर उस विश्रामरूप स्वभावकी सेवासे परिणाम छूट गये, फिर उन्हीं परद्रव्यलोकमें आये । उनमें आये परिणाम उन परद्रव्यलोकका अवलम्बन सेवा तो करते हैं और उस सेवासे सुखी-दुःखी भी होते हैं परन्तु वे परिणाम इस प्रकार जानते-देखते हैं कि, हम नीच ऐसे परद्रव्य ज्ञेयका अवलम्बन करते हैं ये हमारी सेवाके योग्य नहीं हैं, हमको उस एक चेतनभावकी सेवा शोभा देती है । ये सर्व परद्रव्य एक चेतनस्वभावराजाकी ज्ञेय-दृश्य प्रजा है । अतः ये परिणाम अब इन परद्रव्य-ज्ञेय प्रजाको ज्ञाताद्दष्टालक्षणमय चेतनस्वभावराजारूप नहीं देखते हैं, नहीं जानते हैं । इन परद्रव्योंको अब निःसंदेह उस चेतनराजाकी केवल ज्ञेयप्रजारूप जानते हैं ।

तथा अब वे परिणाम इस परद्रव्यका ही अवलंबन करते

हैं, परन्तु इन परिणामोंने उस चेतनस्वभावकी ज्ञातादृष्टालक्षणमय मूर्तिकी प्रत्यक्ष शक्तिरूपसे आस्तिक्यता, प्रत्यक्ष शक्तिरूपसे ठीकता अथवा शक्तिरूपसे याद कर रखी है। यद्यपि ये परिणाम इस वर्तमान कालमें चेतनस्वभावको प्रत्यक्ष अनुभवरूप देखते, जानते और सेवा नहीं करते; ये परिणामरूप इस कालमें उन परद्रव्यरूप ज्ञेयप्रजाको देखते, जानते और सेवा करते हैं परन्तु उन परिणामोंको सदा उस चेतनस्वभावकी ज्ञाता–दृष्टामय मूर्ति शक्तिरूपसे साक्षात् तद्रूप याद रहती है।

जैसे किसी पुरुषने कोई ग्रन्थ याद कर रखा है और अब वर्तमानकालमें उस ग्रन्थपाठको देखता, जानता, रटता और पढ़ता नहीं है; या तो सोता है, या खेलता है, या प्रमादी हुआ है, या अन्य ग्रन्थ रटता है, पढ़ता है या खानपान, गमन, हँसना, स्नान दान आदि क्रिया करता है। कोई जानेगा कि इस पुरुषने बहुत ग्रन्थ याद किये हैं, वह ग्रन्थ इस कालमें इस पुरुषके ज्ञानमें नहीं है, इस पुरुषसे सर्वथा नास्ति हो गये हैं। हे भाई! इस प्रकार तो नहीं है। यह पुरुष अन्य दान आदि क्रियाको करता, प्रवर्तता और अभ्यास करता है परन्तु वह ग्रन्थकी धारणा शक्तिरूपसे, ठीक प्रकारसे विद्यमान है और उसके जाननेमें है। वह ग्रन्थकी धारणा उस पुरुषके कभी भी नास्ति नहीं होती। फिर जब उस ग्रन्थको पढ़ता है, तब उस ग्रन्थकी धारणाशक्तिसे भले प्रकार पढ़ता है, उस पढ़नेका सुख लेता है और उस ग्रन्थकी याद शक्ति इस प्रकार है कि अन्य ग्रन्थके पाठ पढ़नेमें नहीं मिला देता है। यह उस ग्रन्थकी याद शक्तिका गुण है।

इस प्रकार इन परिणामोंसे चेतनस्वभावराजाकी ज्ञातादृष्टादि-लक्षणमय मूर्तिके ठीक यादरूप परिणाम प्रवर्तते हैं अतः उन

परिणामोंको चेतनस्वभाव याद है। तथा ये परिणाम उन परद्रव्यरूप ज्ञेयोंको देखते-जानते हुए भी उस चेतनस्वभाव ज्ञाता-दृष्टामय मूरतको नहीं मिला देते; स्वभावको भिन्न रखते हैं। यह उस स्वभावकी ठीक यादरूप परिणामके प्रवर्तनका गुण है। ये परिणाम अन्य परद्रव्यभावोंका अवलंबन (सेवा) करनी छोड़ फिर कुछ काल पश्चात् उस चेतनस्वभावकी स्थिरता, विश्राम, सेवारूप सन्मुख होते हैं। उस सेवासे वही सुख-शांति, अनाकुलता आदि रीति होती है। फिर कुछ काल पश्चात् उस चेतनस्वभावकी सेवा छूट जाती है तब वे परिणाम फिर उन ज्ञेयोंकी सेवा करते हैं। इसी इसी प्रकार कभी स्वभावकी सेवा करते, कभी परभावोंकी सेवा करते बहुत काल व्यतीत हुआ।

तब कुछ काल पश्चात् ये परिणाम जो उस चेतनस्वभावके विश्राम सेवामें लगे थे, वे तो लगे ही रहे परन्तु जो अन्य परिणाम अबुद्धि कर्मरूप भावमय परिणाम थे, वे परिणाम भी आगामी समयमें अबुद्धि कर्मरूपसे दूर हो-होकर उस स्वभावरूपमें विश्राम सेवामें लगने लगे। इसी प्रकार होते होते जब इस जीवद्रव्यके सब चारित्रपरिणाम स्वभावरूप विश्रामके स्थिरतारूप हुए ज्ञानदर्शनादि सर्व परिणाम एक केवल निजस्वरूपरूप हुए, यहाँ तात्पर्य यह है कि—यह सर्व परिणाम सर्वथा स्वभावरूप, कूटस्थ सिद्ध हो गये। तभी इस स्वभावराजाकी प्रत्यक्ष जानने-देखनेकी दोनों शक्तियाँ सर्व ज्ञेय लोकालोक प्रजा पर प्रवृत्त गई। अनन्त बल-वीर्य, अनन्तपरमसुख समूहवन्त हुए, परम प्रभु हुए। उसकी अवस्था कथनातीत है अतः इतना जानना कि ये परिणाम तब परिणामस्वरूप ऋद्धि, प्रभु, नित्यपदको प्राप्त हुए।

हे संत! इस कथनमें एक तो बहिरात्मा, अंतरात्मा,

परमात्मा इन परिणामोंकी अवस्था जाननी और दूसरे अंतरात्माकी अवस्थामें ज्ञान-दर्शन-सम्यक्त्वाचरण, चारित्राचरणकी रीति कही है। अपने परिणामसे तुलना करके देखनेके लिये यह उपदेश दिया है।

इति दृष्टांत पूर्वक स्वरूप व्याख्यान।

अथ छद्मस्थिनां परमात्मप्राप्ते (परमात्मप्राप्तेः) सकला रीतिः एतावन् एकांतेन अस्ति।

अब छद्मस्थियोंकी परमात्मप्राप्तिकी सकल रीति एकांतसे इतनी है—

(दानका लक्षण)

जीवद्रव्य निजस्वभावभावशक्तिरूपं, अव्यक्तत्वत् निजस्वभाव-भावव्यक्तत्वेन यदा स्वपरिणामेभ्यः ददाति तद्दानम् ॥ १ ॥

अर्थ—निजस्वभावभावशक्तिरूप ही जीवद्रव्य है। अव्यक्त जो निजस्वभावभाव उसके अभिव्यक्त हो जाने पर जिस समय अपनेरूप परिणमन करता है वही दान है।

(शीलका लक्षण)

शीलो निजचेतनस्वभावः तस्य निजस्वभावस्य, अन्य परभाव रीतिनारीभ्यः यत् विरतिः, अतिष्ठनं, पालनं तदेव शीलपालनं ॥ २ ॥

अर्थ—अपने चेतनस्वभावको शील कहते हैं। उस अपने स्वभावकी अन्य परभावरूप नारीसे विरक्तता (त्याग) और अपने स्वभावमें स्थिर रहना ही शीलपालन कहलाता है।

(तपका लक्षण)

यत् देहपरिग्रहभोगपरिवार इष्टमित्रशत्रुपरज्ञेयस्य त्यजनं-ममतारूप रहितत्वं, वा तृष्णा तस्याः तृष्णाया रहितं भावशोभनं तपनं तदेव तपः ॥ ३ ॥

अर्थ—शरीर, परिग्रह, भोग, कुटुम्ब, इष्ट, मित्र, शत्रुरूप परज्ञेयोंको छोड़ना अर्थात् उनमें ममता रहित परिणति होना तथा उनमें तृष्णा रहित होना और अपने स्वभावमें शोभित-स्थिरता होना ऐसी तपस्या ही तप है ।

(भावनाका लक्षण)

यत् निजस्वभावस्य अनुभावनं तदेव (सर्व) भावना ॥४॥

अर्थ—अपने स्वभावका बारंबार चिन्तन करना ही भावना है ।

(व्रतका लक्षण)

यत् इन्द्रियमनभोगादिभ्यः संवरणं परिणामानां तत् व्रतम् ॥ ५ ॥

अर्थ—इन्द्रिय, मन और भोगादिकोंकी तरफ जानेसे अपने परिणामोंका रुकना व्रत है ।

(दयाका लक्षण)

यत् निजस्वस्वभावं विकारभावेन न घातयति न हिनस्ति निजस्वभावं पालयति तदेव (सैवे) दया ॥ ६ ॥

अर्थः—विकारमय परिणामों द्वारा अपने निजस्वभावका घात नहीं करना तथा अपने स्वभावका पालन करना ही दया है ।

(यति और श्रावकका लक्षण)

सर्व इन्द्रियभोगेभ्यः देहादिपरिग्रह ममत्वत्यजनं तत् (स) यतिः । किंचित् त्यजनं श्रावकः ॥ ७ ॥

अर्थः—समस्त इन्द्रियोंके भोगोंसे और शरीरादि परिग्रहसे सर्वथा ममता रहित होना यतिका लक्षण है । इनमें एकदेश ममत्वका त्याग होना श्रावकका लक्षण है ।

(वैराग्यका लक्षण)

रागद्वेषखेदरहितं उदासीनभाव ज्ञानसहितं तत् वैराग्यम् ॥८॥

अर्थः—राग. द्वेष, खेद रहित, ज्ञानसहित उदासीनभाव होना वैराग्य है ।

(धर्मका लक्षण)

निजवस्तुस्वभावो धर्मः तदेव (स एव) धर्मः ॥ ९ ॥

अर्थ—वस्तुका निजस्वभाव ही धर्म है । अतः उसही को धर्म कहते हैं ।

(शुद्धका लक्षण)

रागादिविकाररहितो शुद्धः ॥ १० ॥ इत्यादि निश्चयाः चेतनजा ॥

अर्थः—रागादि विकार रहित ही शुद्धका लक्षण है । इत्यादिको चेतनजन्य निश्चय करना ।

इति छद्मस्थकी परमात्मलाभकी सकल रीति इतनी ।

अथ जीवभाववचनिका

[लब्धि और उपयोगरूप मति-श्रुतज्ञानको भावेन्द्रिय कहा है जो क्षायोपशमिकज्ञान है]

क्षयोपशममें पाँच इन्द्रियरूप पुद्गलके जो आकार बने हैं, उन आकार स्थानोंमें जीवके जो-जो क्षायोपशमिक चेतन परिणाम किस भाँति प्रवर्तित होता है—कि जैसी-जैसी पुद्गलकी इन्द्रियाँ नाम धारण करती हैं तैसे ही जीवके जो जो क्षायोपशमिक चेतनपरिणाम प्रवर्तते हैं, वे वे इन्द्रियोंका आश्रय कर उद्यत होकर प्रवर्तते हैं, वे वे चेतनके परिणाम भी वैसे-वैसे पुद्गलके एक-एक गुणस्कंधोंको देखते-जानते हैं। और उन मार्गों द्वारा वैसे ही सुख-दुःखको वेदन करते हैं अतः उन चेतनपरिणामोंको इन्द्रियसंज्ञा प्राप्त होती है।

सर्व तात्पर्य यह है कि—पुद्गल इन्द्रियमार्गके आश्रयसे प्रवर्तते हुए परिणाम इन्द्रियसंज्ञाको प्राप्त होते हैं। तथा इसी प्रकार परिणामोंको मनसंज्ञा प्राप्त हुई जानना। इस प्रकार इन परिणामभावोंको तो इन्द्रियसंज्ञा कही। अब किस किसको अतीन्द्रिय संज्ञा है? वह कहते हैं—

जो जीवके परिणाम क्षयोपशमादि बिना एक आवरणसहित भावरूप प्रवर्तते हैं उन परिणामोंको अबुद्धि संज्ञा है। उन अबुद्धि संज्ञक परिणामोंको अतीन्द्रियसंज्ञा भी कही जाती है। तथा जब जिस कालमें सम्यग्दृष्टिके सम्यक्मति-श्रुति परिणामः इन्द्रिय-मनभावसे रहित हो स्वरूप-अनुभवरूप होते हैं तब तक वे परिणाम भी अनुभव अतीन्द्रिय संज्ञाको प्राप्त होते हैं। तथा जब केवलज्ञान-दर्शनादिरूप जीव होता है तबसे जीवके

केवलरूप परिणाम भी अतीन्द्रिय कहे जाते हैं । इसी प्रकार अतीन्द्रियसंज्ञक परिणामोंको यथास्थान जान लेना ।

तथा जो किंचित् किंचित् वस्तुओंके लक्षण साधन करे, वे ज्ञान-दर्शनभाव परोक्ष कहलाते हैं ।

तथा प्रत्यक्ष चार भेद हैं—जब यह संसारी जीव सुख-दुःख बुद्धिपूर्वक भोगता है, तब बुद्धिपूर्वक उपयोग उस भोगको प्रगट जानता-देखता है, उसको सुख-दुःख वेदन कहा जाता है । तथा जब मति, श्रुतस्वरूपके अनुभवरूप होते हैं तब उस समय "यह मैं चेतन व्याप्य-व्यापक वस्तु" इस प्रकार प्रत्यक्ष, प्रगट जानने-देखनेरूप मतिश्रुत उपयोगभाव है, वह अनुभव निःसंदेह प्रत्यक्ष है, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है । तथा केवलज्ञान, केवलदर्शनादि होने पर उस केवलज्ञानदर्शनको सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है । तथा अवधि मनःपर्ययज्ञान किंचित्-किंचित् ज्ञेयोंको प्रगट जानते-देखते हैं उन्हें देशप्रत्यक्ष कहा जाता है । चारित्रप्रत्यक्ष यथास्थान जानना ।

[अथ छद्मस्थिनां परमात्मप्राप्तेः सफलारीतिः एतावत् एकांतेन अस्ति]

हे छद्मस्थ ! यहाँ एक तात्पर्यकी बात सुनो—उस बातके करने पर बहुत लाभ अपने आप सिद्ध होता है । तेरे लिये कार्यकारी (सुधारनेवाली) बात इतनी ही है, अब वह क्या ?

प्रथम दृष्टांत—जैसे शीशा और उज्ज्वलताका एक तादात्म्य व्याप्य-व्यापक है—एक व्याप्य-व्यापक ही है । वह शीशा निर्मल स्वच्छताका मात्र एक पिंड बना हुआ है । उस पिंड बननेमें अन्य कुछ भी मिला हुआ नहीं है, एक मात्र

स्वच्छताका पिंड शीशा बना है। वह तो तादात्म्य व्याप्य-व्यापक अंग है तथा वह उसकी पैनी-अत्यन्त उज्ज्वल स्वच्छता प्रतिबिंबाकाररूप होती है वह व्याप्य-व्यापक अंग जानना अतः शीशेको तादात्म्य व्याप्य-व्यापक अंगसे देखने पर एक स्वच्छताका ही पिंड है, उसकी अपेक्षासे उसमें अन्य कुछ भी नहीं है और उस स्वच्छताका भाव जैसा है वैसा है। इति।

उसीप्रकार चेतनपरिणाम! तुम देखो, तादात्म्य व्याप्य-व्यापकरूपसे तो शुद्ध एकमात्र चेतनावस्तुहीका पिंड बना हुआ है; उस पिंड बननेमें तो अन्य शुद्ध-अशुद्ध, संसार-मुक्ति, भेद-अभेद, निश्चय-व्यवहार, नय निक्षेपादि, ज्ञेयाकार प्रतिभासादि समस्त भावोंका रंचमात्र कुछ भी भाव नहीं मिला है, अनादिसे शुद्ध चेतनवस्तुपिंड बना है। तथा उन चेतनपरिणामरूपोंमें तुम शुद्ध-अशुद्ध, संसारमुक्ति, भेद-अभेद, निश्चय-व्यवहारादि, ज्ञेयाकार प्रतिभासादिभाव सबहीके रूप होते (यदि तुम) हो, तो व्याप्य-व्यापकरूप हुए हो। यदि तुम इसीप्रकार तादात्म्य व्याप्यव्यापकरूप होते तो—

हे छद्मस्थ परिणामों! जो व्याप्यव्यापक-भाव परिणाममें अभ्यासरूप प्रवर्तन करोगे तो यद्यपि तुम एक वस्तु, वस्तुकारूप हो तथापि छद्मस्थ परिणामों! तुम विकल्पजालमें पड़ जाओगे, तब तुम उनमें क्लेश पाओगे। तुम्हारी शक्ति इतनी तो है नहीं कि विकल्पजालको संपूर्ण प्रत्यक्ष साध सको अतः इससे तुम्हारा परमात्मलाभ कार्य साधन नहीं होगा। तुमको अपना परमात्मकार्य साधनेकी इच्छा है, अतः तुम इसरूप इतना ही प्रवर्तना अनुभव करो, साधन करो कि इस 'अपने तादात्म्यरूपको प्रत्यक्ष देखो, जानो और स्थिर रहो। इतनी ही रीति तुम्हें

परमात्मरूप होनेको कार्यकारी है। अन्य कोई विकल्प-जाल कार्यकारी नहीं है। छद्मस्थ परिणामों! यह निःशंक (निर्भय) होकर जानना अतः तुम इस प्रकारसे उद्यमवन्त रहना। परमात्मलाभकी सफल रीति तुम निःसंदेह यही जानना।

[इति छद्मस्थीकी परमात्मलाभकी सफल रीति इतनी]

[इति जीवभाव वचनिका संपूर्णम्]

अथ आत्मवलोकन स्तोत्र

गुण-गुणकी सुभाव विभावता लखियो दृष्टि निहार।
पै आन आनमैं न मेलियौ, होसी ज्ञान विचार ॥ १ ॥

अर्थ—प्रत्येक गुणका स्वभाव और विभाव दृष्टि प्रसार कर देखना, परन्तु अन्यको अन्यमें न मिलाना, तुम्हारा ज्ञान निर्मल विस्तृत होगा।

सब रहस्य या ग्रन्थको, निरखो चित्त देय मित।
चरणस्यौं जिय मलिन होय, चरणस्यौं पवित्त ॥ २ ॥

अर्थ—हे मित्र! इस ग्रन्थका रहस्य चित्त लगाकर समझना। जीव आचरणचारित्रसे ही मलिन होता है और आचरणचारित्रसे ही पवित्र होता है।

चरन उलटै प्रभु समल, सुलटै चरन सब निर्मल होति।
उलट चरन संसार है, सुलट परम की ज्योति ॥ ३ ॥

अर्थ—चारित्र उलटा (मिथ्या) होनेसे प्रभु (जीव) मलिन होता है, चारित्र सुलटा-सम्यक् होनेसे सब निर्मल हो

जाते हैं। मिथ्याचारित्र संसार है और सम्यक्चारित्र परमज्योति अर्थात् मोक्ष है।

वस्तु सिद्ध ज्यों चरन सिद्ध है, चरन सिद्धिसो वस्तुकी सिद्धि।
समल चरण तब रंकसा, चरन शुद्ध अनन्ती ऋद्धि ॥ ४ ॥

अर्थ—वस्तुकी सिद्धिसे चारित्र सिद्ध है, चारित्रकी सिद्धिसे वस्तुकी सिद्धि है [वस्तुके आश्रयसे ही चारित्र परिणाम होता है और चारित्रपरिणाम बिना वस्तुका स्वाद नहीं आता], जब मलिन चारित्र है, तब रंकवत् है और चारित्र शुद्ध होने पर अनन्त ऋद्धिवाला है।

इन चरन परके वसि कियौ, जियको संसार।
भी निज घर तिष्ठ कर, करै जगतस्यौं पार ॥ ५ ॥

अर्थ—परवश आचरणसे जीवको संसार होता है फिर निजघरमें स्थित होकर जगतसे पार होता है।

अथ अन्य

व्यापककौ निश्चय कहौ, अव्यापककौ व्यवहार।
व्याप अव्यापकके फेरस्यौं, भया एक, द्वय प्रकार ॥ १ ॥

अर्थ—व्यापकको निश्चय कहते हैं और अव्यापकको व्यवहार कहते हैं। व्यापक-अव्यापकके भेदसे एकके दो प्रकार हो जाते हैं।

स्वप्रकाश निश्चय कहा, पर प्रकाशक व्यवहार।
सो व्यापक-अव्यापक भावस्यौं, तातैं वानी अगम अपार ॥ २ ॥

अर्थ—स्वप्रकाशकको निश्चय कहते हैं और परप्रकाशकको व्यवहार कहते हैं, वह व्यापक, अव्यापक भावके भेदसे कहते हैं। अतः जिनवाणी अगम और अपार है।

क्षणमें देखो अपनी व्यापकता, इस जिय थलस्यौं सदीव ।
तातैं भिन्न हूँ लोकतै, रहूँ सहज सुकीव ॥ ३ ॥

अर्थ—एक दृष्टिसे देखने पर जीव निजस्थानसे त्रिकाल व्यापक है । अतः मैं लोकसे भले प्रकार भिन्न होकर सहज भावसे रहूँ ॥ ३ ॥

छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि जीवका ज्ञान, दर्शनादि, इन्द्रियमन सहित और इन्द्रियमन अतीतका किंचित् विवरण—

(दोहा)

बुद्धि अबुद्धि करि दुधा, बढ़े छदमस्ती धार ।
इनकौ नास परमात्म हुवन, भवजलसमुद्रके पार ॥ १ ॥

अर्थ—छद्मस्थ जीवमें बुद्धि-अबुद्धि दो प्रकारसे परिणामोंकी धारा प्रवाहित होती है । भवजलसमुद्रके पार परमात्मा होनेके लिये इनको नष्ट कर ।

(सोरठा)

जे अबुद्धिरूप परिनाम, ते देखै जानै नहीं ।
तिनकौं सर्व सावरन काम, कैसे देखै जानै बापु रे ॥ २ ॥

अर्थ—जो अबुद्धिरूप परिणाम हैं, वे देखते-जानते नहीं हैं । उनका सर्व कार्य आवरण सहित होनेसे स्वयं कैसे देख जान सकते हैं ?

पुनः

जु बुद्धरूपी धार, सो जथाजोग जानै देखै सदा ।
ते क्षयोपशम आकार, तातैं देखै जानै आपही ॥ ३ ॥

अर्थ—बुद्धिरूपी धारा सदा यथायोग्य जानती-देखती है ।

वह धारा क्षयोपशम आकाररूप होनेसे स्वयं ही देखती-जानती है ।

पुनः

बुद्धि परनति षट्भेद, भए एक जीव परनामके ।
फरस, रस, घ्राणेव, श्रोत, चक्षु, मन छठमा ॥ ४ ॥

अर्थ—एक जीव परिणामकी बुद्धि परिणतिके छह भेद हैं । स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ।

(दोहा)

भिन्न-भिन्न ज्ञेय हि उपर, भए भिन्न थानके ईश ।
तातैं इनको इन्द्र पद, धरयौ वीर जगदीश ॥ ५ ॥

अर्थ—(उपयोगके पांच इन्द्रिय भेद) भिन्न-भिन्न ज्ञेयों पर भिन्न-भिन्न स्थान (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द)के ईश हुए [जानते हैं अतः ईश कहलाते हैं] अतएव तीन लोकके ईश वीर जिनेन्द्रने इनको इन्द्रपद नाम दिया ।

पुनः

ज्ञेय हि लक्षनभेदकौ, मानइ चिंतइ जो ज्ञान ।
ताकौं मनचितसंज्ञा धरी, लखियो चतुर सुजान ॥ ६ ॥

अर्थ—जो ज्ञान, लक्षणभेदरूपसे ज्ञेयोंका मनन, चिंतन करता है, उसको मन अथवा चित्त संज्ञा दी गई । हे चतुर ज्ञानी पुरुषों देखो ।

पुनः

ज्ञान दंसन धारा, मन इन्द्री पद इम होत ।
भी इन नाम उपचारसे, कहे देह अंगके गोत ॥ ७ ॥

अर्थ—ज्ञानदर्शनधाराको इस प्रकार मन, इन्द्रिय, पद प्राप्त हुआ। फिर देहके अंगोंको ये ही नाम उपचारसे कहे गये।

पुनः

यह बुद्धि मिथ्याती जीवके, होई क्षयोपशमरूप।
पै स्वपर भेद लखै नहीं, तातैं निज रवि देख न धूप ॥ ८ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वी जीवके यह बुद्धि क्षयोपशमरूप होती है परन्तु स्वपरका भेद नहीं देखती है अतः निज ज्ञानसूर्य और उसके प्रकाशको नहीं देख पाता।

पुनः

सम्यग्दृष्टि जीवके, बुध धार सम्यग् सदीव।
स्वपर जानै भेदस्यौं रहे, भिन्न ज्ञायक सुकीव ॥ ९ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीवकी बुद्धिधारा सदा ही सम्यक् होती है। स्वपर भेद जाननेसे भले प्रकार भिन्न ज्ञायक ही रहता है।

(चौपाई)

मन इन्द्री तब ही लौं भाव, भिन्न-भिन्न साधै ज्ञेयकौं ठाव।
सब मिलि साधै जब इकरूप, तब मन इन्द्रीका नहीं रूप ॥१०॥

अर्थ—जब तक (उपयोगके भेद) भिन्न-भिन्न ज्ञेयस्थानका साधन करते हैं, तब तक ही मनइन्द्रियभाव है जब सर्व उपयोग एक स्वरूपका साधन करता है तब उसका मन-इन्द्रियरूप नहीं रहता।

इक पद साधनकौं किय मेल, तब मन–इन्द्रीका नहीं खेल ।
तातैं मन-इन्द्री भेद पद नाम, है अतीन्द्री एकमेक परनाम ॥

अर्थ—एक (स्व) पद साधनेको जब उपयोगके भेद मिल गये (उपयोग सर्व ओरसे हटकर एकरूप अभेद हुआ) तब मन-इन्द्रियका खेल-नाटक नष्ट हो गया । अतः मन-इन्द्रिय उपयोगके भेदके नाम हैं । अतीन्द्रिय परिणाम तो एक अभेद परिणाम है ।

स्व अनुभव छन विषैं, मिलै सब बुद्धि परनाम ।
तातैं स्व अनुभव अतींद्री, भयौ छद्मस्तीको नाम ॥ १२ ॥

अर्थ – स्व अनुभव क्षणमें सब बुद्धि परिणाम मिलकर प्रवर्तते हैं अतः स्व अनुभवका नाम छद्मस्थके अतीन्द्रिय कहलाता है ।

जा विधितैं मन इन्द्रिय होत, ता विधिस्यौं भए अभाव ।
तब तिन ही परनाम कौ मन इन्द्री पद कहा बताव ॥ १३ ॥

अर्थ—मन और इन्द्रिय इस विधिसे (उपयोग भेदसे) होते हैं और उस विधिसे (अभेद उपयोगसे) भेद अभाव हुए, तब उन परिणामोंका मन–इन्द्रिय पद कैसा ?

सम्यग् बुद्धि परवाह, क्षणरूप मझ क्षन रूप तट ।
पै रूप छांडि न जाह, यहु सम्यक्त्वताकी माहातमा ॥ १४ ॥ इति

अर्थ—सम्यक्ज्ञान प्रवाहका क्षणरूप मध्य (निर्विकल्प) होता है और क्षणरूप तट (सविकल्प) होता है परन्तु रूप छोड़कर नहीं जाता, यह सम्यक्त्वका माहात्म्य है ।

अनुभव दोहा—

हूँ चेतन हूँ ज्ञान, हूँ दर्शन सुख भोगता ।
हूँ अहन्त सिद्ध महान, हूँ हू ही हूँको पोषता ॥ १ ॥

अर्थ—मैं चेतन हूँ, मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ, मैं सुखका भोक्ता हूँ, मैं अर्हन्त सिद्ध महान हूँ, मैं मैं हीका पोषक हूँ ।

जैसे फटिकके विंबमें, रह्यो समाय जोतिको खंध ।
पृथक् मूर्ति प्रकाशकी, बन्धी प्रत्यक्ष फटिकके मंध ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे स्फटिकके विम्बमें दीपज्योतिका स्कंध समा रहा है परन्तु स्फटिकमें प्रकाशकी प्रत्यक्ष भिन्न मूर्ति है ।

तैसे यह कर्म स्कंधमें समाय रहा है चेतन दर्व ।
पै पृथक् मूर्ति चेतनमई, बन्धी त्रिकालगत सर्व ॥ ३ ॥

अर्थ—उसी प्रकार इस कर्म स्कंधमें मैं चेतन द्रव्य समा रहा हू परन्तु तीनोंकाल सर्वज्ञस्वभावी चेतनमयी मूर्ति पृथक् रहती है ।

नख सिख तक इस देहमें निवसत जु मैं चेतनरूप ।
जिस क्षण मैं मैंही कौं लखू, ता क्षण मैं हौं चेतनभूप ॥ ४ ॥

अर्थ—नखसे लेकर शिखा तक इस शरीरमें मैं चेतनरूप पुरुष निवास करता हूं । जिस क्षण मैं मुझको ही देखता हूँ उसी क्षण मैं चैतन्यराजा हूं ।

इस ही पुद्गल पिन्डमें, वहै जो देखनजाननधार ।
यह मैं यहु मैं यहु जो कछु देखनजाननहार ॥ ५ ॥

अर्थ—इस ही पुद्गल पिंडमें यह जो देखनेजाननेवाला है, वह देखनेजाननेवाला जो कुछ है वही मैं हूं, वही मैं हूं।

यह मैं, यह मैं मैं यही, घट बीच देखतजानतभाव ।
सही मैं सही मैं मैं सही, यह देखनजाननठाव ॥ ६ ॥

अर्थ—अंतरमें जो देखने-जाननेवाला भाव है, यही मैं हूँ, यही मैं हूँ, मैं ही हूँ। यह दर्शक-ज्ञायक स्थान पिंड निश्चित् ही मैं हूँ, निश्चित् ही मैं हूँ, निश्चित् ही मैं हूँ।

अथ चारित्र —

मैं तिष्ठ रह्यो मैं ही विषै, जब इन परसे कैसा मेल ।
राजा उठि अंदर गयो, तब हस सभासे कैसो खेल ॥ ७ ॥

अर्थ—मैं मुझमें ही ठहरा हूँ, तब इस परसे मेरा सम्बन्ध कैसा ? जब राजा उठकर अंदर गया, तब सभाका नाटक कैसा ?

प्रभुता निजघर रहे, दुःख नीचता परके गेह ।
यह प्रत्यक्ष रीति विचारिकै, रहिये निज चेतन गेह ॥ ८ ॥

अर्थ—अपने घरमें प्रभुता रहती है और परके घर दुःख और नीचता रहती है। यह प्रत्यक्ष रीति विचार कर निजचेतन गृहमें रहना चाहिये ।

पर अवलंबन दुःख है, स्व-अवलंबन सुखरूप ।
यह प्रगट लखात पहचानके, अवलंबियो सुख कूप ॥ ९ ॥

अर्थ--पर अवलंबन दुःखरूप है और स्व-अवलंबन सुखरूप है। यह प्रगट देखकर और लक्षणसे पहिचानकर सुख रूप (स्वात) अपना अवलंबन करना चाहिये।

यावत तृष्णारूप है, तावत मिथ्या-भ्रम-जाल।
ऐसी रीति पिछानिकै, लहिये सम्यग् विरति चाल ॥ १० ॥

अर्थ—जब तक तृष्णारूप है तब तक मिथ्या भ्रमजाल है। ऐसी रीति पहचानकर सम्यक् विरति ग्रहण करना चाहिये।

परके परिचय धूम है, निज परिचय सुख चैन।
यह परमारथ जिन कह्यो, उस हितकी करी जु सैन ॥ ११ ॥

अर्थ—परके परिचयसे आकुलता है और निजके परिचयसे सुख-चैन (शान्ति) है। जिनेन्द्रदेवने यह परमार्थ कह कर उस हितका संकेत किया है।

इस धातुमयी पिंडमयी रहूँ मैं अमूरति चेतन बिम्ब।
ताके देखत सेवतैं रहे पंचपद प्रतिबिम्ब ॥ १२ ॥

अर्थ—इस धातुमयी पिंडमें मैं अमूर्तिक चेतन बिम्ब रहता हूँ। उसके देखने और सेवन करनेमें पांचों परमपद प्रतिबिंबित होते हैं।

तब लग पंचपद सेवना, जब लग निजपदकी नहीं सेव।
भइ निजपदकी सेवना, तब आपै आप पंच पद देव ॥१३॥

अर्थ—तब तक पंचपरमेष्ठीकी सेवा करता है जब

तक निजपदको सेवा नहीं है । निजपदकी सेवा होते ही स्वयं पंचपरमेष्ठी देव है ।

पंच पद विचारत ध्यावतैं, निजपदकी शुद्धि होत ।
निजपद शुद्धि होवतैं निजपद भवजलतारण पोत ॥ १४ ॥

अर्थ—पांच पदोंको विचारने और ध्यान करने पर निजपदकी शुद्धि होती है । निजपदकी शुद्धि होने पर निजपद भवजलसे पार होनेके लिये जहाज है ।

मैं ज्ञाता दृष्टा सदा, मैं पंचपद त्रिभुवन सार ।
मैं ब्रह्म ईश जगदीशपद, सो हूँ के परचैं मैं पार ॥ १५ ॥

अर्थ—मैं सदा ज्ञाता हूँ, दृष्टा मैं, तीनलोकमें सार पंचपद (परमेष्ठी) हूँ, मैं ब्रह्मा, ईश्वर और जगदीश स्वरूप हूँ । सोहंका परिचय होते ही भवोदधिसे पार होता है ।

॥ इति श्री आत्मावलोकन ग्रन्थ संपूर्णम् ॥

卐